तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग-२

विपश्यना विशोधन विन्यास

विपश्यी साधकों के कल्याणार्थ

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग - ३

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का
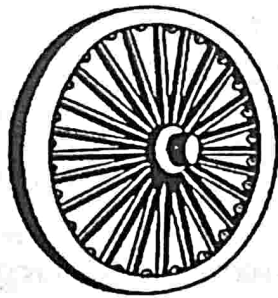
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

विषय-सूची

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥

(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥

(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनो ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।

स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक वाड़ेवंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अव सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अव उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक वृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शिनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे वढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण वने!

उनके अपरिमित हित-सुख का कारण वने!

उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण वने!

उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण वने!

यही कल्याण कामना है।

बुद्ध जयंती, १९९५

कल्याणमित्र,

सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये– पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

शील और प्रज्ञा बिना ब्राह्मण नहीं

सोणदंड

एक बार भगवान अंग देश के चंपा नगर में ठहरे हुए थे। अनेक लोगों को भगवान के दर्शनार्थ जाते देख कर स्थानीय ब्राह्मणों का नेता सोणदंड भी अपने अनेक संगी-साथियों सहित भगवान से मिलने आया।

कथा-संलाप में भगवान ने उससे पूछा –

कतिहि पन, ब्राह्मण, अङ्गेहि समन्नागतं ब्राह्मणा ब्राह्मणं पञ्ञपेन्ति?

(दी० नि० १.३०९, सोणदण्डसुत्त)

– हे ब्राह्मण, कितने अंगों से युक्त होने पर ब्राह्मण लोग किसी व्यक्ति को ब्राह्मण प्रज्ञापित करते हैं?

सोणदंड ने उत्तर दिया – पांच। उसने ब्राह्मणों के पांचों गुणों की व्याख्या इस प्रकार की –

(१) माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक जातिवाद के अनुसार सुजात हो, शुद्ध हो।

(२) अध्यायक यानी अध्ययनशील हो, वेदपाठी हो। समस्त वैदिक साहित्य में पारंगत हो।

(३) अभिरूप यानी दर्शनीय, परम सौंदर्य से युक्त हो, गौर-वर्ण हो।

(४) शीलवान हो, सदाचारी हो।

(५) पंडित हो, प्रज्ञावान हो, मेधावी हो।

भगवान ने पूछा – इन पांच अंगों में एक न भी हो तो क्या वह ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने उत्तर दिया - हां, यदि गौर वर्ण न हो, तो भी बाकी चार अंगों से युक्त होने पर वह ब्राह्मण माना जायेगा।

(ब्रह्मर्षि कालदेवल गौर वर्ण नहीं बल्कि काला था। इसीलिए असित देवल कहलाता था। परंतु ब्राह्मणों का अग्रणी था, पूज्य था।)

भगवान ने फिर पूछा - क्या इन चार अंगों में से भी एक अंग न हो तो ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने फिर उत्तर दिया - हां, यदि सारे वैदिक साहित्य में पारंगत न भी हो, तो भी बाकी तीन अंगों के कारण ब्राह्मण माना जायेगा।

(ऐसे ब्राह्मणों की संख्या कम नहीं थी जो खेती-बाड़ी में लगे थे और वैदिक साहित्य में पारंगत नहीं थे।)

भगवान ने फिर पूछा - बाकी बचे तीन अंगों में से भी यदि एक अंग न हो तो भी क्या ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने कहा - हां, यदि जातिवाद के नियमों के अनुसार सात पीढ़ियों तक संशुद्ध न हो, तो भी बाकी अंगों से युक्त होने के कारण ब्राह्मण कहलायेगा।

(अनेक ब्राह्मण अब्राह्मणियों से विवाह करते थे, उनकी संतान ब्राह्मण ही मानी जाती थी।)

यह सुन कर साथ आयी ब्राह्मण-मंडली घबरायी। सोणदंड को कोसने लगी कि वह भगवान की ही मान्यता में बह गया क्योंकि उसने जातिवाद को महत्त्वहीन बता दिया। जन्म को महत्त्व न देकर उसने गुणों को महत्त्व दे दिया। सोणदंड ने उन्हें समझाते हुए कहा कि जाति इसमें क्या करेगी? प्रमुख तो शील और मेधा यानी प्रज्ञा ही है। साथ आये हुए अपने भानजे माणवक की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि यह मेरा भानजा गौर वर्ण भी है, वेदपाठी भी है। माता-पिता तथा उनकी सात पीढ़ियों तक जातिवाद की मान्यता के कारण अत्यंत शुद्ध भी है। परंतु यदि यह दु:शील, दुराचारी हो तो केवल वर्ण, वेद-पठन और संशुद्ध जाति इसका क्या उपकार करेगी। शीलवान और प्रज्ञावान होगा, तो ही सही माने में पूजनीय ब्राह्मण होगा।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि यदि इन दो अंगों में से भी एक छोड़ दिया जाय तो शेष बचे एक अंग से क्या यह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने योग्य है?

इस पर सोणदंड ने कहा - नहीं, शील और प्रज्ञा दोनों का होना अत्यंत आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे के उपकारक हैं।

भगवान ने सोणदंड का अनुमोदन किया और कहा -

एवमेतं, ब्राह्मण, एवमेतं, ब्राह्मण। (दी० नि० १.३१७, सोणदण्डसुत्त)

- ऐसा ही है, ब्राह्मण, ऐसा ही है, ब्राह्मण।

सचमुच शील और प्रज्ञा एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे के उपकारक हैं। लेकिन शील और प्रज्ञा की प्रशंसा, प्रशस्ति कर देने मात्र से बात नहीं बनती। लाभ तभी होता है जब उन्हें धारण किया जाता है। धारण करने के लिए समझना होता है कि शील और प्रज्ञा क्या हैं और किस प्रकार शील का पालन तथा प्रज्ञा का विकास किया जा सकता है। भगवान यही करना सिखाते थे, जबकि अन्य लोग इनका केवल गुणगान गाकर रह जाते थे।

भगवान की वाणी में शुद्ध धर्म की सच्चाई थी, अकाट्य युक्तियों का बल था और इनसे भी बढ़ कर कल्याणी करुणा की वर्षा थी, जो बड़े से बड़े विरोधी के भी हथियार गिरा देती थी; क्योंकि भगवान की कल्याणी करुणा उस विरोधी के प्रति ही प्रकट होती थी। भगवान की वाणी वाद-विवाद द्वारा किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं होती थी। वह भटके हुए लोगों के कल्याण के लिए होती थी। इस कल्याण-कामना का कोई क्या विरोध करता? ब्राह्मण नेता सोणदंड भगवान बुद्ध का परम श्रद्धालु उपासक बन गया।

जो व्यक्ति सर्वहितकारिणी वाणी बोले, सर्वहितकारी कर्म करे, लोगों के लिए उसका अनुयायी बन जाना सहज स्वाभाविक है। भगवान नितांत नि:स्वार्थ भाव से यही करते थे। धर्म की गाड़ी पटरी से उतर चुकी थी। लोग धर्म की चर्चा भले कर लें पर धारण करना छोड़ चुके थे, क्योंकि धारण कैसे करें, यही भूल चुके थे। जब धर्म धारण ही नहीं करते तो अपनी मिथ्या आत्म-तुष्टि के लिए धर्म के नाम पर किसी निस्सार छिलके को ही जोरों से पकड़ कर उसी में अपना कल्याण देखने लगते हैं। और यही हो रहा था। लोग परम पुनीत सनातन आर्य-धर्म छोड़ कर अनार्य हुए जा रहे थे और अपना अमंगल कर रहे थे।

धनंजानि

ब्राह्मणी धनंजानि भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थी। शील, समाधि, प्रज्ञा को धारण करने वाली थी। उसका कुछ-कुछ प्रभाव उसके पति तथा परिवार पर भी पड़ा। परंतु जब उसका शरीर शांत हुआ तब ब्राह्मण धनंजानि ने दूसरा विवाह कर लिया। यह नवोढ़ा पत्नी धर्म से सर्वथा दूर थी। अब धनंजानि पर इसका प्रभाव अधिक पड़ने लगा। उसका शुद्ध होता हुआ जीवन फिर दूषित होने लगा। वह भदंत सारिपुत्त का पूर्व शिष्य था। अतः वे उसका विशेष ख्याल रखते थे। एक बार भदंत सारिपुत्त ने किसी भिक्षु से पूछा -

"क्या धनंजानि अप्रमाद का जीवन जी रहा है?"

कुत्तो, पनावुसो, धनञ्जानिस्स ब्राह्मणस्स अप्पमादो?

- आवुस, कहां है ब्राह्मण धनंजानि का अप्रमाद?

धनञ्जानि, आवुसो, ब्राह्मणो राजानं निस्साय ब्राह्मणगहपतिके विलुम्पति,

- हे आवुस, अब तो धनंजानि ब्राह्मण राजा का सहारा लेकर ब्राह्मण गृहस्थों को ठगता है, लूटता है और

ब्राह्मणगहपतिके निस्साय राजानं विलुम्पति।

(म० नि० २.४४५, धनञ्जानिसुत्त)

- गृहस्थ ब्राह्मणों का सहारा लेकर राजा को ठगता है, लूटता है।

यानी फिर उसी ठगविद्या में पड़ गया है और अपना तथा औरों का अनर्थ कर रहा है। यह सुन कर महाकारुणिक भगवान के परम शिष्य करुणावंत सारिपुत्त राजगृह आये और ब्राह्मण धनंजानि के यहां गये।

अवसर पाकर भदंत सारिपुत्त ने ब्राह्मण धनंजानि को धर्म-देशना देते हुए समझाया कि तुम्हारा दुष्कर्म तुम्हारे लिए ही हानिकारक होगा। दुष्फल आने पर अन्य कोई हाथ बटाने नहीं आयेगा।

कुछ समय के बाद ब्राह्मण धनंजानि बहुत बीमार पड़ा। मरणांतक पीड़ा से पीड़ित हुआ। उसने भगवान को अपना नमन अभिवादन कहलवाया और भदंत सारिपुत्त को बुलवा भेजा। भगवान की आज्ञा लेकर सारिपुत्त ब्राह्मण धनंजानि के यहां गये। सारिपुत्त ने मरणासन्न अवस्था में पड़े ब्राह्मण धनंजानि की धर्म-स्मृति जगायी। उसे ब्रह्म-विहार की साधना-भावना का अभ्यास कराया। इसका अभ्यास करते-करते उसकी शरीर-च्युति हुई और वह ब्रह्मलोक में जन्मा। उसका यह लोक भी सुधरा, परलोक भी सुधरा।

यों भगवान बुद्ध और उनके शिष्य बिगड़े हुए लोगों को सुधारने का ही काम करते थे। इसीलिए लोग उनकी ओर खिंचे चले आते थे।

जिज्ञासु मुमुक्षु जनता

भगवान की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी कि वे स्वयं मुक्त हैं और लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने स्वीकार कर लिया था कि भगवान स्वयं भवतीर्ण हैं और भव-तरने की शिक्षा देते हैं। दूर-दूर से लोग उनसे मिलने आते थे और कोई-कोई इस प्रकार सादर संबोधन कर उनसे प्रश्न पूछता था -

पुच्छामि मुनिं पहूतपञ्ञं, तिण्णं पारङ्गतं परिनिब्बुतं ठितत्तं।

(सु० नि० ३६१, सम्मापरिब्बाजनीयसुत्त)

- भवसिंधु से तरे, पार गये, परिनिवृत्त हुए, स्थितात्म महाप्रज्ञ मुनि से मैं पूछता हूं।

दूर-दराज दक्षिण के गोदावरी-तट पर रहने वाले शतायु ब्राह्मण बावरी ने अपने सोलह मूर्धन्य शिष्यों को भगवान से मिलने भेजा, जिन्होंने बारी बारी से प्रश्न पूछे -

पुण्णकमाणवपुच्छा

अनेजं मूलदस्साविं, अत्थि पञ्हेन आगमं।

(सु० नि० १०४९, पुण्णकमाणवपुच्छा)

- हे तृष्णा से अविचलित, हे मूलदर्शी, मैं आपके पास प्रश्न पूछने आया हूं।

मेत्तगूमाणवपुच्छा

पुच्छामि तं भगवा ब्रूहि मेतं, मञ्ञामि तं वेदगुं भावितत्तं।

(सु० नि० १०५५, मेत्तगूमाणवपुच्छा)

– हे भगवान, आपसे पूछता हूं, मुझे बतायें। मैं आपको वेदगू और आत्मसंयमी मानता हूं।

जतुकण्णिमाणवपुच्छा

सुत्वानहं वीरमकामकामिं, ओघातिगं पुट्ठुमकाममागमं।

(सु० नि० ११०२, जतुकण्णिमाणवपुच्छा)

– हे धीर, आप निष्काम हैं और भव-प्रवाह को पार कर चुके हैं। आपके विषय में ऐसा सुनकर मैं यह प्रश्न पूछने आया हूं।

भद्रावुधमाणवपुच्छा

ओकञ्जहं तण्हच्छिदं अनेजं, नन्दिञ्जहं ओघतिण्णं विमुत्तं।
कप्पञ्जहं अभियाचे सुमेधं, सुत्वान नागस्स अपनमिस्सन्ति
इतो॥

(सु० नि० ११०७, भद्रावुधमाणवपुच्छा)

– गृहत्यागी, तृष्णानाशी, अचंचल, आसक्ति-विहीन, भवसागर-तीर्ण, विमुक्त और संसारत्यागी सुमेध ज्ञानी से मैं याचना करता हूं। आप निष्पाप का उपदेश सुन कर ही हम यहां से हटेंगे।

उदयमाणवपुच्छा

झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चं अनासवं।
पारगुं सब्बधम्मानं, अत्थि पञ्हेन आगमं॥

(सु० नि० ११११, उदयमाणवपुच्छा)

– ध्यानी, विमलता में स्थित, कृत-कृत्य, क्षीणास्रव, सब धर्मों के जानकार, मैं आपसे प्रश्न पूछने आया हूं।

पोसालमाणवपुच्छा

यो अतीतं आदिसति, अनेजो छिन्नसंसयो।
पारगुं सब्बधम्मानं, अत्थि पञ्हेन आगमं॥

(सु० नि० १११८, पोसालमाणवपुच्छा)

– हे अतीतदर्शी, तृष्णारहित, छिन्न-संशय, सब धर्मों में पारंगत, मैं आपसे प्रश्न पूछने आया हूं।

इन थोड़े से उद्धरणों से स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान ब्राह्मणों का दूषण दूर करने के लिए उनकी मिथ्या मान्यताओं का जोरदार खंडन करते थे, फिर भी समूह के समूह जाने-माने ज्ञानी ब्राह्मण अत्यंत श्रद्धा के साथ उनसे धर्म-संबंधी प्रश्न पूछने आते थे। स्पष्ट है कि वे लोग विवाद करने नहीं आते थे। उन्हें भगवान की विमुक्त अवस्था के बारे में कोई संदेह नहीं था। उन्हें भगवान की वाणी पर पूर्ण विश्वास था। अतः केवल उनसे अपनी शंकाओं का समाधान कराने आते थे। अपनी भव-मुक्ति के लिए मार्ग निर्देशन प्राप्त करने आते थे।

भगवान के मन में ब्राह्मणों के प्रति रंचमात्र भी द्वेष और दुर्भावना नहीं थी। वे विद्याचरणसंपन्न थे। अतः अपनी प्रज्ञाजन्य विद्या द्वारा उनकी वर्तमान दयनीय अवस्था को खूब जान चुके थे और आचरणजन्य करुणा द्वारा उन्हें इस दयनीय अवस्था से उबारने के लिए हर संभव प्रयत्न करते थे। उन्हें मंगल उपदेश देते थे। जाति और वर्ण से संबंधित उनका मिथ्या दंभ तोड़ते थे।

जाति, वर्ण, गोत्र, कुल को धर्म के साथ जोड़ कर अज्ञानी लोगों ने केवल अपनी ही हानि नहीं की, बल्कि समाज के बड़े भाग को अत्याचारों का शिकार बनाया। जाति, वर्ण, आदि का भेदभाव, छुआछूत का रोग सारे समाज के लिए कोढ़ स्वरूप बन गया था। सारे राष्ट्र के लिए कलंक-स्वरूप बन गया था, क्लेश-स्वरूप बन गया था। इस बहुसंख्यक वर्ग की मेधा,

प्रतिभा, कार्य-कुशलता सुनियोजित ढंग से कुंठित की गयी। उन्हें कभी विकास का मौका ही नहीं दिया गया। उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिछड़े ही बने रहने के लिए मजबूर किया गया।

उन विद्याचरणसंपन्न, महान कारुणिक, शल्यकर्ता (सर्जन) ने मैत्री चित्त से इस वैयक्तिक और सामाजिक सड़े-गले फोड़े पर नश्तर लगाया। व्यक्ति के लिए विमुक्ति के मार्ग में बाधक बनी इस विषैली मान्यता को और सारे समाज के लिए घोर पीड़ा और अशांति का कारण बनी इस दूषित व्यवस्था को बदलने का उन्होंने अथक परिश्रम किया। इस पुनीत कार्य में हजारों की संख्या में सुधी ब्राह्मणों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुछ एक प्रारंभिक कठिनाइयों के बावजूद बुद्ध अपने मांगलिक अभियान में दृढ़तापूर्वक लगे रहे। धीरे-धीरे यह बात लोगों की समझ में आने लगी कि वे न किसी वर्ग के अनुचित हिमायती हैं और न किसी वर्ग के विरोधी। उन्हें विरोध केवल दूषण से है। उसे ही दूर करने का वे भरसक प्रयत्न करते हैं।

वे सर्वज्ञ थे, सम्यक संबुद्ध थे। अतः अपने प्रबुद्ध ज्ञान से खूब समझ गये थे कि कोई व्यक्ति उच्चवर्णी होने का कितना ही दंभ भरे, अपने को हजार शुद्ध, स्वच्छ माने पर अशुद्ध चित्त होने से सर्वथा अशुद्ध ही है। चित्त शुद्ध किये बिना वह दुःखों से विमुक्त नहीं हो सकता। उसकी वास्तविक शुद्धि उसकी चित्त-विशुद्धि में ही है। यही बात जब वे अत्यंत करुणा-विगलित वाणी में समझाते थे, तो विरोधियों का विरोध स्वतः दूर हो जाता था। उनकी किसी भी प्रक्रिया में औरों को नीचा दिखा कर स्वयं को ऊंचा दिखाने की चेष्टा नजर नहीं आती थी। वे अध्यात्म के क्षेत्र में गिरे हुए लोगों को बड़े प्यार से हाथ का सहारा देकर ऊपर उठाने की ही चेष्टा करते रहते थे। उन्हें पुराने जमाने के ब्राह्मणों की नैतिकता और आध्यात्मिक महानता का खूब बोध था। उनकी गिरी हुई वर्तमान स्थिति की भी पूर्ण जानकारी थी। अतः समय समय पर इन दोनों तथ्यों को उजागर कर वे उनका होश जगाने का सत्प्रयत्न करते रहते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग

भगवान श्रावस्ती में थे। उस समय अनेक कोशलवासी युवा और वृद्ध धनी ब्राह्मण भगवान से मिलने आये और कुशल मंगल पूछ कर एक ओर बैठ गये। उन्होंने भगवान से पूछा कि क्या इन दिनों पुरातन ब्राह्मण धर्म के अनुसार जीवन जीने वाले ब्राह्मण दीखते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया – इन दिनों ऐसे ब्राह्मण नहीं दीखते।

इस पर उन ब्राह्मणों ने पुराने ब्राह्मणों की चर्या के विषय में भगवान से जानना चाहा। भगवान ने उसका प्रज्ञापन करते हुए बताया –

पुराने ब्राह्मण ऋषि आत्मसंयत और तपस्वी होते थे। वे पांच प्रकार के इंद्रिय-सुखों को त्याग कर आत्मकल्याण के काम में लगे रहते थे।

उन ब्राह्मणों के पास न पशु होते थे, न हिरण्य और न धान्य। स्वाध्याय यानी 'स्व' का अध्ययन ही उनका धन-धान्य था और वे इस ब्रह्म-निधि का पालन करते हुए इसकी सुरक्षा करते थे।

लोग श्रद्धा से उनके लिए भोजन तैयार कर द्वार पर रखे रहते थे। मांग करने पर योग्य समझ कर उन्हें दान देते थे।

समृद्ध जनपदों और राष्ट्रों के लोग नाना प्रकार के रंगीन वस्त्रों, शयनों और निवास-स्थानों का दान देकर उन्हें पूजते थे।

ब्राह्मण अवध्य थे, अजेय थे, धर्म-रक्षित थे। सभी परिवारों के गृहद्वारों पर उनके प्रवेश के लिए कोई रोक नहीं थी।

पुराने समय के ब्राह्मण अड़तालीस वर्षों तक बाल-ब्रह्मचारी रहते थे तथा विद्या और आचरण की गवेषणा में विचरण करते थे।

गृही जीवन के लिए वे ब्राह्मण न किसी अन्य स्त्री के पास जाते थे और न अपने लिए खरीद कर भार्या लाते थे। परस्पर प्रेमवाली के साथ ही सहवास करना उन्हें प्रिय था।

ऋतुकाल को छोड़कर बीच के निषिद्ध समय में ब्राह्मण कभी मैथुन कर्म नहीं करते थे।

वे ब्रह्मचर्य, शील, सरलता, नम्रता, तप, सौजन्य, अहिंसा तथा क्षमा के प्रशंसक थे।

उनमें से वह जो ब्रह्मा कहलाते थे, गृहस्थ जीवन में प्रवेश ही नहीं करते थे और आजीवन अखंड ब्रह्मचर्य का जीवन जीते थे। वह स्वप्न में भी मैथुन नहीं करते थे।

उनके आचरण का अनुसरण करने वाले अन्य अनेक विज्ञ लोग ब्रह्मचर्य, शील और क्षमा के प्रबल प्रशंसक थे।

वे धार्मिक रीति से चावल, शय्या, घी, तेल मांग कर लाते और यज्ञ करते थे।

भगवान ने यह भी बताया कि -

उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं, नास्सु गावो हनिंसु ते।

- यज्ञ उपस्थित होने पर वे गायों का वध नहीं करते थे।

और तदनंतर भगवान ने गायों के प्रति अपना प्यार प्रदर्शित करते हुए कहा -

यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा॥

- माता, पिता, भाई तथा अन्य बंधुओं सदृश गायें हमारी परम मित्र हैं। उनसे (उनके गोबर की खाद से और उनके बछड़ों-बैलों द्वारा हल जोतने से) वनस्पति तथा औषधियां उत्पन्न होती हैं।

अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते॥

- ये अन्न, बल, वर्ण तथा सुख देने वाली हैं, ऐसा समझ कर वे गायों का वध नहीं करते थे।

भगवान ने आगे समझाया -

सुखुमाला महाकाया, वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि, किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु, सुखमेधित्थयं पजा।

(सु० नि० २९८-३००, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

- सुकुमार, महाकाय, वर्णवंत, यशस्वी ब्राह्मण अपने धर्मों के साथ जब कर्तव्याकर्तव्य में तत्पर थे, तब तक प्रजा सुखी रही।

परंतु दुर्भाग्य से यह अवस्था बिगड़ी। ब्राह्मण तप और त्याग के प्राचीन नैतिक जीवन से पतित हुए। उनके क्रमिक अधःपतन का एक बड़ा सजीव चित्र भी भगवान ने प्रस्तुत किया। यथा -

धीरे-धीरे राजा की विशाल संपत्ति, उसकी समलंकृत स्त्रियों, अच्छे-अच्छे घोड़े-जुते सुंदर बेलबूटेदार रथों और अनेक कमरों वाली कोठियों और भवनों को देख-देख कर उनका मन ललचाया।

उन्हें अपना त्याग तथा तपस्या का सादा जीवन अखरने लगा, उनके मन में कामनाओं के ज्वार उठने लगे।

गोमण्डलपरिब्यूळ्हं, नारीवरगणायुतं।
उळारं मानुसं भोगं, अभिज्झायिंसु ब्राह्मणा॥

- तब उन ब्राह्मणों के मन में गो-मंडल से घिरे, सुंदर नारियों से युक्त विपुल मानुषी भोग की लालसा जागने लगी।

इस तरह पुराने समय के त्यागी सात्त्विक ब्राह्मणों का पतन आरंभ हुआ। उन्होंने ठग विद्या द्वारा राजा को अपने वश में किया।

ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा, ओक्काकं तदुपागमुं।

- तब वे मंत्र रच कर इक्ष्वाकु राजा के पास गये और बोले -

पहूतधनधञ्ञोसि, यजस्सु बहु ते वित्तं, यजस्सु बहु ते धनं।

- तू बहुत धन-धान्य संपन्न है, यज्ञ कर। तू बहुत संपत्तिशाली है, यज्ञ कर।

ततो च राजा सञ्ञत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो।

– उस कारण संयमी रथपति राजा ब्राह्मणों की बातों में आ गया और –

अस्समेधं पुरिसमेधं, सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गळं।
एते यागे यजित्वान, ब्राह्मणानमदा धनं॥

– उसने अश्वमेध, नरमेध, सम्मापास, वाजपेय और निरर्गल नामक यज्ञ किये और पुरोधा ब्राह्मणों को धन दिया।

गावो सयनञ्च वत्थञ्च, नारियो समलङ्कता।
रथे चाजञ्ञसंयुत्ते, सुकते चित्तसिब्बने॥
निवेसनानि रम्मानि, सुविभत्तानि भागसो।
नानाधञ्ञस्स पूरेत्वा, ब्राह्मणानमदा धनं॥

(सु० नि० ३०३-३०७, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

– गायें, पलंग, वस्त्र, समलंकृत स्त्रियां, उत्तम घोड़े-जुते सुसज्जित वेलबूटेदार रथ और धन-धान्य से भरे हुए भव्य भवन उन ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दिये।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि पूर्वकालीन ब्राह्मण इस प्रकार की विलास की सामग्रियां दान में नहीं लेते थे। त्यागी जीवन के लिए जितनी आवश्यक थी, उतनी ही दक्षिणा स्वीकारते थे। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि राजा को राज्य-वैभव बढ़ने की तथा युद्ध में जीतने की आशाएं बँधा कर ये हिंसक यज्ञ आरंभ किये गये। वदले में स्वयं के लिए विलासमय, वैभवमय जीवन जीने का मार्ग खुला। इस प्रकार त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणों का अधःपतन हुआ। इतना ही नहीं, जिसकी एक बार ऊंचाई से फिसलन शुरू हो जाती है, वह न जाने किस गर्त तक जा गिरता है। और यही हुआ। अधःपतन घोर अधःपतन में वदला।

ते च तत्थ धनं लद्धा, सन्निधिं समरोचयुं।

– यों धन प्राप्त होने पर उसे संग्रह, परिग्रह करने का उनका जी चाहा। जो पहले नितांत अपरिग्रही थे, वे अव परिग्रही होने लगे।

तेसं इच्छावतिण्णानं, भिय्यो तण्हा पवड्ढथ।

– जैसे-जैसे वे इच्छाओं में निमग्न हुए, वैसे-वैसे उनकी तृष्णा और वढ़ती गयी।

ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा, ओक्काकं पुन मुपागमुं।

– तव वे मंत्र रच कर इक्ष्वाकु राजा के पास फिर आये।

(इन नये मंत्रों में अधिक वल है, इनसे राज्य-वैभव और अधिक समृद्ध होगा, ऐसा आश्वासन दिया गया होगा।) एक ओर ब्राह्मणों की तृष्णा वढ़ी। दूसरी ओर राजा की तृष्णा वढ़ी और यज्ञ के नाम पर होने वाला अनर्थ, घोर अनर्थ का रूप लेने लगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि पूर्वकाल के ब्राह्मण निरामिष-भोजी रहे होंगे। हिंसात्मक यज्ञ इसीलिए कराये गये होंगे कि वे भी औरों की भांति मांस-भक्षण कर सकें। सामान्यतया मांस-भक्षण उनके लिए वड़ी लज्जा की वात होती होगी। परंतु उनके द्वारा यज्ञ के देव-उच्छिष्ट मांस को प्रसाद के रूप में खाया जाना लोगों को वुरा नहीं लगा होगा। इस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा मांस-भक्षण आरंभ हुआ होगा। अन्य प्राणियों का मांस यज्ञ का प्रसाद मान कर खाते-खाते उनके मन में गो-मांस खाने की इच्छा प्रवल हुई होगी। लगता है उस समय तक भारत में कोई गो-वध नहीं करता था। परंतु इन जिव्हा-लोलुप पुरोहितों ने सोचा होगा कि जिस गाय से दूध, दही, मक्खन, घी आदि स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, उसका मांस न जाने कितना स्वादिष्ट होगा। अतः उन्होंने ऐसे मंत्र रचे जो गो-मेध यज्ञ के लिए थे। उन्होंने राजा को आश्वासन दिया होगा कि इन मंत्रों के आधार पर यज्ञ किये जाएं तो उसके राज्य-वैभव में अपार वृद्धि होगी। लोभी पुरोहित और लालची राजा के गठवंधन से देश में पहली वार गो-हत्या हुई।

तव वे नये मंत्र रच कर फिर राजा इक्ष्वाकु के पास गये।

गो-वध के लिए उसके मानस को तैयार करने के लिए दुष्मंत्रणा दी कि –

यथा आपो च पथवी च, हिरञ्ञं धनधानियं,

– जैसे पानी, पृथ्वी, हिरण्य और धन-धान्य हैं,

एवं गावो मनुस्सानं, परिक्खारो सो हि पाणिनं।

– वैसे ही गाय मनुष्यों के लिए है। वह प्राणियों के लिए उपभोग की वस्तु है।

यों प्रेरित कर राजा से गो-वध यज्ञ कराया।

ततो च राजा सञ्ञत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो,

– उस प्रकार उन ब्राह्मणों की बातों में आकर संयमी रथपति राजा ने,

नेका सतसहस्सियो, गावो यञ्ञे अघातयि।

– अनेक सौ हजार गायों का यज्ञों के लिए हनन करवाया।

ततो देवा पितरो च, इन्दो असुररक्खसा।
अधम्मो इति पक्कन्दुं, यं सत्थं निपती गवे॥

– इस पर देवता, पितर, इंद्र, असुर और राक्षस –

– चीख उठे कि यह बड़ा अधर्म हुआ जो कि गौ पर शस्त्र गिरा।

इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि इससे पूर्व अपने देश में गो-हत्या नहीं होती थी। गो-हत्या का यह पहला कु-अवसर आया। भगवान बुद्ध को गौ के प्रति बहुत प्यार था। तभी उन्होंने कहा –

न पादा न विसाणेन, नास्सु हिंसन्ति केनचि।

– गौएं किसी की हिंसा नहीं करती हैं; न पांव से, न सींग से, न किसी अन्य अंग से।

गावो एळकसमाना – वे (गायें) भेड़ जैसी (निरीह) होती हैं।

सोरता कुम्भदूहना – भोली होती हैं, दूहने से घड़े भर दूध देने वाली होती हैं।

ता विसाणे गहेत्वान – उन्हें सींग से पकड़ कर,

राजा सत्थेन घातयि – राजा ने शस्त्र से उनका वध करवाया।

(सु० नि० ३०८-३१२, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

जब तक यज्ञ अन्न, तिलहन और घृत आदि से होता रहा, तब तक तो गनीमत थी। परंतु जैसे ही यज्ञस्थल ने पशुओं के बूचड़खाने का रूप ले लिया वैसे ही सदाचार का जीवन जीने वाले पूज्य तपस्वी ब्राह्मणों का जीवन कसाई का सा गर्हित जीवन हो गया और इस हत्या को धर्म का जामा पहनाने के कारण वे साधारण कसाई से भी कहीं अधिक गये-गुजरे हो गये। तदनंतर जब यज्ञस्थल पर गो-वध होने लगा तो उनकी गर्हित अवस्था भयंकर हो उठी। उनके साथ-साथ ऐसे यज्ञ करवाने वाले और उसमें सहयोग देने वाले समाज का भी घोर अधःपतन हुआ, जिससे कि वे असीम दुःख संतप्त हुए।

भगवान ने कहा –

तयो रोगा पुरे आसुं – पहले केवल तीन ही रोग थे,

इच्छा अनसनं जरा – इच्छा, भूख और जरा।

पसूनञ्च समारम्भा – पशुओं की हत्या करने से,

अट्ठानवुतिमागमुं – अट्ठानवे रोग हो गये।

(सु० नि० ३१३, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

धर्म के नाम पर पशु हत्या आरंभ हुई। यही अनर्थ हुआ, अधर्म हुआ। धर्म के नाम पर जब गो-हत्या आरंभ हुई तब तो घोर अनर्थ हुआ, घोर अधर्म हुआ। धर्म के नाम पर चल रहे इस अधर्म को, अनर्थ को रुकवाना ही भगवान बुद्ध को अभीष्ट था, ताकि जिस दोष में सारा समाज निमग्न हो गया था, उसे दोषमुक्त किया जा सके। जिसके कारण ब्राह्मण समाज का अधःपतन हो गया था, उससे उसे उबारा जा सके। जहां-जहां अवसर आया, भगवान ने इस दूषित प्रथा को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया; प्रज्ञा और करुणा से परिपूर्ण होकर प्रयत्न किया।

अहिंसामय यज्ञ

कूटदंत ब्राह्मण

उन दिनों भगवान बुद्ध मगध की चारिका करते हुए अंबलट्ठिक उद्यान में विहार कर रहे थे। वहां खाणुमत नामक ब्राह्मणग्राम था, जिसे मगधराज बिंबिसार ने कूटदंत ब्राह्मण को जीवन-यापन के लिए प्रदान कर दिया था। इस कारण कूटदंत महाधनसंपन्न था।

उन दिनों ब्राह्मण कूटदंत एक बहुत बड़े यज्ञ की तैयारी में निमग्न था। यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए उसने सैकड़ों गायों, बैलों, बछड़ों, बछड़ियों और भेड़-बकरियों को बांध रखा था। अंबलट्ठिक में भगवान के आगमन की सूचना पाकर वह उनसे मिलने गया।

भगवान ने जब सम्यक संबोधि प्राप्त की थी, तब उन्हें पूर्वजन्म स्मरण की विद्या प्राप्त हुई थी। इस विद्या के बल पर वे अपने अनगिनत पूर्वजन्मों की घटनाओं को चल-चित्र की भांति देख सकते थे। पूर्वकाल के ब्राह्मण कैसे हुआ करते थे, यह उन्होंने इसी विद्या के बल पर जाना था। पूर्वकाल के अहिंसामय यज्ञ कैसे होते थे, यह भी इसी विद्या से जान कर समय-समय पर लोगों को बताते थे। इस कारण उनकी यह भी प्रसिद्धि फैल गयी थी कि वे पूर्व काल की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा को जानते हैं। ब्राह्मण कूटदंत के घर महायज्ञ का आयोजन था, अतः उसने भगवान बुद्ध से पूछा कि पूर्वकाल की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा – **सोळसपरिक्खारं तिविधं यञ्ञ-सम्पदा** – कैसी हुआ करती थी?

भगवान ने पुरातन काल के महाप्रतापी महाराज महाविजित तथा उनके पंडित, ब्राह्मण पुरोहित की वार्ता का उदाहरण देकर अपने विद्याचरण संपन्न चित्त से कूटदंत को प्राचीन भारत की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा समझायी।

पुराने जमाने में जब कोई राजा बृहद् यज्ञ संपन्न करना चाहता तो राजपुरोहित उस पर रोक लगाता था। यदि राज्य में कहीं भी अराजकता होती, लूटपाट होती, बटमारी होती और लोग अपने आपको असुरक्षित

महसूस करते, तो पुरोहित उसे यज्ञ के अनुकूल अवसर नहीं मानता और वह राजा को यज्ञ कराने की अनुमति नहीं देता था।

जिस देश में भुखमरी होगी वहां भूखे लोग राजदंड की परवाह न करके लूटपाट मचायेंगे। एक ओर ऐसी गरीबी हो और दूसरी ओर राजा पुत्र-कलत्र या यश-कीर्ति प्राप्त करने के लिए या पड़ोसी का राज्य छीन कर अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अथवा शत्रु का नाश करने के लिए यज्ञ करवाये, तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है?

ब्राह्मण पुरोहित ने राजा से कहा कि पहले यह लूटपाट बंद होनी चाहिए। राजा जब दस्युओं को वध, बंधन, देश-निष्कासन आदि दंडों द्वारा समाप्त करने लगा, तब पुरोहित ने फिर रोक लगायी। पुरोहित ने कहा – दंड द्वारा सही सुधार नहीं हो सकता। एक बार दब भी जाय, तो ऐसी अराजकता पुनः पुनः सिर उठाती रहेगी। हो सकता है और भी जोरों से सिर उठाए। उसे संपूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। इसके लिए व्यावहारिक कदम उठाने होंगे। इस निमित्त पुरोहित ने मंत्रणा दी कि प्रजा में जो कृषि की रुचि रखते हैं उन्हें बोने के लिए बीज दें और जब तक फसल तैयार न हो तब तक उनके भोजन पानी का प्रबंध करें। जिनको वाणिज्य की रुचि है उन्हें वाणिज्य करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्रदान करें। जो नौकरी करना चाहते हैं उन्हें राज्य की ओर से नौकरी देकर भत्ता, वेतन प्रदान करें। इस प्रकार लोग काम में लग जायेंगे, तो अन्य लोगों को उत्पीड़ित नहीं करेंगे। उनकी आय से राज्य की आय भी बढ़ेगी। देश पीड़ा-रहित, निष्कंटक और क्षेमपूर्ण होगा।

मनुस्सा मुदा मोदमाना उरे पुत्ते नच्चेन्ता अपारुतघरा मञ्ञे विहरन्ति।

(दी० नि० १.३३८, कूटदन्तसुत्त)

लोग हर्षित, मुदित, अपने बच्चों को गोद में खेलाते, नचाते हुए घर खुला छोड़ कर विहार करेंगे।

देश में सुरक्षा और निर्भयता फैलेगी क्योंकि देश में बेरोजगारी और भुखमरी नहीं रहेगी और वही महायज्ञ संपन्न करने का अनुकूल समय होगा।

जब ऐसी सुखद सुरक्षा की अवस्था आ जाय तब ही पुरोहित राजा को यज्ञ कराने की मंत्रणा देता था। परंतु यज्ञ के लिए कुछ एक अन्य आवश्यक अपेक्षाएं भी थीं। पुरोहित उनका स्पष्टीकरण करता था।

उन दिनों महायज्ञ करने के पहले देश के चार महत्वपूर्ण संगठनों की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक थी। यथा – जनपदों और निगमों के क्षत्रिय परिषद, अमात्य परिषद, ब्राह्मण परिषद तथा अन्य गृहस्थ परिषद की अनुमतियां।

ये चारों अनुमतियां यज्ञ की चार परिष्कार-शुद्धियां मानी जाती थीं। इन चारों परिषदों की अनुमति न हो तो यज्ञ शुद्ध नहीं माना जाता था।

इसके अतिरिक्त यज्ञ करने वाले राजा को आठ अंगों से युक्त होना आवश्यक होता था।

(१) माता और पिता दोनों ओर से सुजात होना।

(२) सुंदर, सुदर्शनीय होना।

(३) शीलवान होना।

(४) प्रभूत धन-धान्य, कोष और कोष्ठागार संपन्न होना।

(५) बलवती चतुरंगिणी सेना से युक्त, तेजस्वी और यशस्वी होना।

(६) श्रद्धापूर्वक दान देने वाला होना।

(७) बहुश्रुत और अर्थज्ञ होना।

(८) मेधावी, पंडित होना।

राजा के ये आठ गुण यज्ञ की आठ परिष्कार-शुद्धियां मानी जाती थीं।

जैसे राजा में, वैसे ही यज्ञ करने वाले पुरोहित में भी ये चार योग्यताएं और सद्गुण होने आवश्यक थे –

(१) माता-पिता दोनों ओर से सुजात।

(२) अध्यापक, मंत्रधर और त्रिवेद पारंगत।

(३) शीलवान।

(४) मेधावी, पंडित।

पुरोहित के ये चार गुण भी यज्ञ की चार परिष्कृतियां यानी शुद्धियां होती थीं।

यों यज्ञ का इन चार जोड़ आठ जोड़ चार यानी सोलह परिष्कारों से, शुद्धियों से परिपूर्ण होना आवश्यक माना जाता था। ऐसे आदर्श यज्ञ की तीन विधाएं और पूरी करनी पड़ती थीं।

(१) यज्ञ केवल पितर और देवों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही नहीं बल्कि राजा की ओर से ब्राह्मणों और अन्य याचकों को भरपूर दान देने के लिए भी किया जाता था। अतः सोलह परिष्कारों से शुद्ध होने के अतिरिक्त राजा को यह भी समझाया जाता था कि इतनी बड़ी धनराशि खर्च करने के कारण दान देने के पूर्व, दान देते हुए या दान देने के पश्चात वह क्षुब्ध न हो, प्रसन्नचित्त ही रहे।

(२) ऐसे यज्ञ में प्रजा की ओर से अनेक लोग सम्मिलित होते थे जिनमें से कुछ शील-सदाचार से परिपूर्ण, तो कुछ अपरिपूर्ण होते थे। राजा को समझाया जाता था कि वह इन शील-विहीन लोगों के प्रति मन में जरा भी द्वेष न उत्पन्न करे। जो सदाचारी हैं, उनके प्रति मन में मोद जगाये और जो सदाचारी नहीं हैं, उनके प्रति उपेक्षा-भाव रखे। उन दिनों ऐसे शुद्ध यज्ञों में गायें, भेड़-बकरियां, मुर्गे, सूअर आदि नहीं मारे जाते थे। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, खांड से ही यज्ञ की पूर्णाहुति होती थी। नौकर-चाकर, दास-दासियों से अश्रुमुख बेगार नहीं ली जाती थी। वे प्रसन्नचित्त से, स्वेच्छापूर्वक सेवा करें तो करें अथवा न करें तो न करें।

(३) जनपद निगमों से आयी हुई चारों परिषद भी यज्ञ भूमि के चारों ओर, चारों दिशाओं में छोटी-छोटी यज्ञशालाएं स्थापित कर अपनी ओर से प्रभूत दान देकर इस महायज्ञ में भागीदार होती थीं।

इस प्रकार सर्वथा अनुकूल परिस्थिति में जो यज्ञ होता था उसमें –

इतिमे चत्तारो अनुमतिपक्खा – इस प्रकार चारों परिषदों के चार अनुमति पक्ष होते थे,

राजा महाविजितो अट्ठङ्गेहि समन्नागतो – महाविजित यजमान राजा आठ अंगों से युक्त होता था,

पुरोहितो ब्राह्मणो चतुहङ्गेहि समन्नागतो – राजपुरोहित ब्राह्मण चार अंगों से युक्त होता था।

इन सोलह परिष्कृतियों यानी शुद्धियों के अतिरिक्त उपरोक्त

तिस्सो विधा – तीन विधाएं (होती थीं)।

(दी० नि० १.३३९-३४२, कूटदन्तसुत्त)

यों पुरातन काल में सोलह परिष्कार अंगों से युक्त त्रिविध यज्ञ होते थे, जो सर्वथा हिंसा-विहीन यज्ञ थे। इसे सुनकर वहां उपस्थित सभी ब्राह्मणों ने उल्लास प्रकट करते हुए कहा –

अहो यञ्ञो, अहो यञ्ञसम्पदा। (दी० नि० १.३४८, कूटदन्तसुत्त)

– धन्य है ऐसा यज्ञ, धन्य ऐसी यज्ञ-संपदा।

कूटदंत तो विस्मय-विभोर हो गया, अवाक रह गया। उसे यों लगा कि भगवान किसी से सुनी-सुनायी बात नहीं बोल रहे बल्कि यों बोल रहे हैं जैसे उस समय स्वयं उपस्थित थे। इस पर भगवान ने कहा कि ये सारी घटनाएं उनके एक पूर्व जन्म में घटी थीं और उस समय के ब्राह्मण राजपुरोहित वे स्वयं ही थे।

यह सुन कर ब्राह्मण कूटदंत बड़ा प्रभावित हुआ और उसने पूछ लिया कि इससे उन्नत भी कोई और यज्ञ होता है क्या? इस पर भगवान ने इससे प्रणीततर यज्ञ की व्याख्या की, जो अधिक फलदायी और कम खर्चीला है। उस यज्ञ के बारे में भगवान ने समझाया –

(१) शीलवान गृहत्यागियों को नित्य दान देना,

(२) त्रिशरण यज्ञ, (३) शिक्षापद यज्ञ,

(४) शील यज्ञ, (५) समाधि यज्ञ,

(६) प्रज्ञा यज्ञ।

इन्हें विस्तार से समझाने के बाद भगवान ने कहा –

इमाय च, ब्राह्मण, यञ्ञसम्पदाय अञ्ञा यञ्ञसम्पदा उत्तरितरा वा पणीततरा वा नत्थि। (दी० नि० १.३५३, कूटदन्तसुत्त)

– हे ब्राह्मण, इस यज्ञ-संपदा से उत्तरोत्तर और प्रणीततर कोई और अन्य यज्ञ-संपदा नहीं होती, अर्थात यही सर्वोत्तम यज्ञ-संपदा है।

ब्राह्मण कूटदंत भगवान के इस वचन से अत्यंत प्रभावित हुआ और बोला कि मैं अपनी यज्ञशाला में वध के लिए बँधे हुए सभी पशुओं को –

मुञ्चामि – मुक्त करता हूं,

जीवितं देमि – जीवनदान देता हूं।

हरितानि चेव तिणानि खादन्तु – वे हरी-हरी घास चरें,

सीतानि च पानीयानी पिवन्तु – शीतल जल पिएं।

सीतो च नेसं वातो उपवायतूति – उनके लिए ठंडी हवाएं बहें।

(दी० नि० १.३५४, कूटदन्तसुत्त)

इस प्रकार समझदार ब्राह्मणं कूटदंत विद्याचरणसंपन्न भगवान की आर्य धर्मदेशना के कारण अनार्य धर्म के दूषण से दूषित होते-होते बच गया।

उद्गतशरीर ब्राह्मण

उद्गतशरीर नामक धनवान ब्राह्मण के यहां महान यज्ञ का आयोजन था। उसने यज्ञ की पूरी तैयारी कर ली थी। सैकड़ों गाय, बैल, बछड़े, बछड़ियां, भेड़, बकरियां यज्ञशाला में यज्ञ-स्तंभ के समीप बांध दी गयी थीं। यज्ञ आरंभ करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया। वहां भगवान ने उसे समझाया कि इस प्रकार के हिंसक यज्ञ करने वाला व्यक्ति तीन प्रकार के दुष्कर्म करता है। पहला है मानसिक दुष्कर्म, जबकि वह इतने पशुओं की हत्या करने का मन:संकल्प करता है। दूसरा है वाचिक दुष्कर्म, जबकि वह पशु-हत्यारों को निरीह पशुओं पर शस्त्र चलाने के लिए वाणी से आदेश देता है। तीसरा है शारीरिक दुष्कर्म, जब वह यज्ञ के लिए लाये गये प्रथम पशु की स्वयं हत्या करता है। इस प्रकार पुण्य कमाने के स्थान पर वह

अपुण्य कमाता है। शुभ कर्म करने के स्थान पर अशुभ कर्म करता है। सुगति, स्वर्ग का मार्ग खोजने के स्थान पर दुर्गति, नरक के मार्ग पर आरूढ़ होता है। उद्गतशरीर भाग्यशाली था। इतना बड़ा दुष्कर्म करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया और उनकी करुणासिक्त वाणी से उसका हृदय परिवर्तन हो गया। उसकी मान्यता तो यही थी कि इतना बड़ा यज्ञ करके वह महान पुण्य कर्म संपादन करेगा, पर अब बात समझ में आयी कि यह तो वस्तुतः अपुण्य-कर्म है, पाप-कर्म है। वध-शाला में बँधे सभी पशुओं को उसने मुक्त कर दिया और भगवान के बताये मार्ग पर चल कर सही माने में पुण्यलाभी हुआ।

(अ० नि० २.७.४७, दुतियअग्गिसुत्त)

तप-त्याग करते हुए अपुण्य कमाते थे

लगता है उन दिनों सारे देश में यज्ञमार्गी लोगों में यह मिथ्या धारणा पुष्ट हो चुकी थी कि ये हिंसक यज्ञ महान पुण्य फल देने वाले हैं। लोग बड़ी श्रद्धा से, भक्ति से, तप और त्याग से इन यज्ञों का संपादन करते-कराते थे। महाधनवान राजा हो या ब्राह्मण, यज्ञ के दिनों बड़ा त्याग का जीवन जीता था। विलास-वैभव से युक्त महलों को छोड़ कर यज्ञशाला की कच्ची कुटिया में गोबर लिपी नंगी धरती पर सोता था। समान रूप-रंग के बछड़े वाली किसी एक ही गाय के मात्र एक ही थन से प्राप्त हुआ दूध का आहार लेता था। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से तपस्वी का जीवन जीता था, अपने आपको कष्ट भी देता था, पर काम तो घिनौना ही करता था। उस तथाकथित धार्मिक यज्ञ में बहुत गायें, बहुत बछड़ियां, बहुत बैल, बहुत बछड़े, बहुत भेड़ें, बहुत बकरियां मारी जाती थीं। उन्हें बांधने के लिए बहुत से कच्चे पेड़ काटे जाते थे। वेदी के लिए बहुत कुश काटा जाता था। यजमान राजा सबसे पहली बलि चढ़ाने के लिए अपने हाथों केवल पहला पशु काटता था, कुछ एक पशु पुरोहित ब्राह्मण काट लेता होगा, पर सैकड़ की तादाद में पशुओं की हत्या करने के लिए गांव, नगर में इतने कसाई भी कहां से मिलते? अतः नौकर-चाकरों से यह दुष्कर्म जबरन कराया जाता

था। वे न चाहते हुए भी अश्रु-मुख होकर ऐसा दुष्कर्म करते थे। उन्हें दंड से धमकाया जाता था। वे भयभीत होकर रोते हुए ऐसा जघन्य कर्म करते थे।

येपिस्स ते होन्ति दासाति वा पेस्साति वा कम्मकराति वा

– जो दास थे, नौकर थे, मजदूर थे,

तेपि दण्डतज्जिता भयतज्जिता

– वे भी डंडे और भय से तर्जित हो कर, डराये-धमकाये जा कर,

अस्सुमुखा रुदमाना – आंसू बहाते हुए, रोते हुए,

परिकम्मानि करोन्ति – (ऐसा जघन्य) काम पूरा करने में लगे हुए थे।

(सं० नि० १.१.१२०, यञ्ञसुत्त)

यों पवित्र यज्ञ के नाम पर अत्यंत अपवित्र कर्म ही किया-कराया जाता था।

महाराज प्रसेनजित

हम देखते हैं कि किसी दुःस्वप्न से भयभीत हो कर अपने भविष्य की सुरक्षा से चिंतित हुए महाराज प्रसेनजित ने ऐसे ही एक बृहद हिंसात्मक यज्ञ का आयोजन किया था, परंतु सौभाग्य से यज्ञ आरंभ करने से पूर्व वह भी भगवान से मिलने चला गया। लोगों के मन में यह भ्रांति गहराई से समा गयी थी कि इन हिंसक यज्ञों से अनिष्ट दूर होता है और इष्ट संपन्न होता है। भगवान ने इस मिथ्या मान्यता से कोशल-नरेश को उबारा, उसे पशु हत्या के दुष्फल से बचाया और हजारों निरपराध प्राणियों की हत्या रुकवायी।

गो-हत्या का दुष्फल

एक प्रसंग में भगवान ने बताया कि गो-घातक की कैसी दुर्गति होती है।

एसो, भिक्खवे, सत्तो इमस्मिंयेव राजगहे गोघातको अहोसि।

– भिक्षुओ, यह सत्त्व इसी राजगृह में गो-हत्या करने वाला था।

सो तस्स कम्मस्स विपाकेन – वह इस कर्म के विपाक से,

बहूनि वस्ससतसहस्सानि निरये पच्चित्वा – अनेक लाख वर्षों तक नरक में पचता-पकता रहा और

तस्सेव कम्मस्स विपाकावसेसेन – उस कर्म के बचे हुए फल-विपाक के कारण,

एवरूपं अत्तभावपटिलाभं पटिसंवेदयति – अब ऐसा दुःखद जीवन जी रहा है। (सं० नि० १.२.२०२, अट्ठिसुत्त)

भगवान करुणा-सागर थे। उनकी करुणा उन निरीह, निरपराध, मूक, असहाय पशुओं पर तो उमड़ी ही, साथ-साथ उन अज्ञानी लोगों पर भी उमड़ी, जो धर्म के नाम पर कितना बड़ा अधर्म कर रहे थे। जो पुण्य के नाम पर कितना बड़ा पाप कमा रहे थे। जो अर्थ के भ्रम में कितना अनर्थ संग्रह कर रहे थे। जो इन दुष्कर्मों के कारण कितना बड़ा दुष्फल भुगतने वाले थे। इसी करुणा-विगलित हृदय से उन्होंने सभी हिंसक यज्ञों का भरपूर विरोध किया, यद्यपि वे सभी यज्ञों के विरोधी नहीं थे, न वे सभी यज्ञों के प्रशंसक थे।

सभी यज्ञ प्रशंसनीय नहीं हैं

उज्जय नामक ब्राह्मण ने जब यह सुना कि भगवान यज्ञों की प्रशंसा भी करते हैं तो वह भगवान के पास आया और उसने उनसे यह प्रश्न पूछा –

भवम्पि नो गोतमो यञ्ञं वण्णेतीति?

– क्या आप गौतम सभी यज्ञों की प्रशंसा करते हैं?

भगवान ने कहा – मैं न सभी यज्ञों की प्रशंसा करता हूं और न सभी की निंदा। जिन अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, सम्मापास, वाजपेय तथा निरर्गल जैसे यज्ञों में गौओं की, भेड़-बकरियों की, मुर्गी-सूअरों की तथा अन्य प्राणियों की हत्या होती है, मैं उनकी प्रशंसा नहीं करता। ऐसे यज्ञों में –

न उपसङ्कमन्ति अरहन्तो वा अरहत्तमग्गं वा समापन्ना।

– न अरहंत जाते हैं और न अरहंत मार्ग पर आरूढ़ आर्यजन।

जिस यज्ञ में प्राणियों की हत्या नहीं होती और जिनमें नित्य दान का कार्यक्रम होता है, वैसे अहिंसक यज्ञ ही अनुकूल यज्ञ हैं, मैं उनकी प्रशंसा करता हूं। ऐसे यज्ञों में अरहंत या अरहंत मार्गारूढ़ आर्यजन सम्मिलित होते हैं। दक्षिणा देने योग्य पुण्यक्षेत्र-सदृश संतों को दान देकर प्रसन्न-चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह –

यञ्ञो च विपुलो होति, पसीदन्ति च देवता।

(अ० नि० १.४.३९, उज्जयसुत्त)

– महान यज्ञ होता है और देवता उससे प्रसन्न होते हैं।

उदायी ब्राह्मण

एक बार उदायी नामक ब्राह्मण ने भी भगवान से यह प्रश्न किया कि क्या आप भी यज्ञ की प्रशंसा करते हैं?

उसके लिये भी भगवान का यही उत्तर था कि जो अभिसंस्कृत, निरारंभ अर्थात अहिंसक यज्ञ है, वही प्रशंसनीय है, अन्य नहीं।

महज एक कर्मकांड के रूप में किया गया यज्ञ भी प्रशंसनीय नहीं है। यज्ञ तभी प्रशंसनीय है जबकि उससे संविभाग करने की अर्थात दान देने की कुशल प्रक्रिया संपन्न होती है। अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप, भृगु जैसे पुराने ऋषि यज्ञों में संविभाग करते थे अर्थात दान देते थे। इसी प्रकार के दान-युक्त यज्ञ प्रशंसनीय होते हैं। दान वही है जो बदले में कुछ पाने की भावना के बिना दिया जाता है। वही उत्तम दान होता है। उत्तम दान देने वाला दानी समझता है कि –

अपि च खो चित्तालङ्कारचित्तपरिक्खारं दानं देति।

(अ० नि० २.७.५२, दानमहप्फलसुत्त)

– वह दान इसलिए देता है कि दान चित्त का अलंकरण है, दान चित्त का आवश्यक परिष्करण है।

अहिंसक यज्ञ में जो संविभाग का अर्थात निष्काम दान का समावेश है वही प्रशंसनीय है, वही चित्त का अलंकरण है, परिष्करण है।

आस्तिकवाद नास्तिकवाद

तिपिटक का पारायण करने पर हम यह देखते हैं कि उन दिनों आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या आज की व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न थी। जो लोग कर्म और कर्मफल के वैज्ञानिक सिद्धांत को नहीं मानते थे और इसलिए यज्ञ, होम, दान को नहीं स्वीकार करते थे; न माता-पिता की सेवा को महत्त्व देते थे, ऐसे लोग नास्तिक कहलाते थे। भगवान ऐसी मान्यता को मिथ्या-दृष्टि कहते थे। (दी० नि० १.१७१, सामञ्ञफलसुत्त)

जो लोग कर्म और कर्मफल के नैसर्गिक सिद्धांत को मानते थे वे यज्ञ, होम, दान तथा माता-पिता की सेवा आदि के सत्फल को स्वीकार करते थे। अतः आस्तिक कहलाते थे। भगवान ऐसी मान्यता को सम्यक-दृष्टि कहते थे। (अ० नि० १.३.११८, विपत्तिसम्पदासुत्त)

अतः दान देने की दृष्टि से भगवान द्वारा होम, यज्ञ का समर्थन स्वाभाविक था बशर्ते कि वह हिंसक न होकर अहिंसक हो।

धर्म-यज्ञ

सर्वथा दूषित हिंसक यज्ञों की तुलना में दान-समन्वित अहिंसक यज्ञ अच्छे हैं, प्रसंशनीय हैं, परंतु जो उनसे भी कहीं अच्छे हैं, भगवान ने उन्हें धर्म-यज्ञ कहा।

द्वेमे, भिक्खवे, यागा – भिक्षुओ, दो प्रकार के यज्ञ होते हैं।

कतमे द्वे? – कौन से दो प्रकार के?

आमिसयागो च, धम्मयागो च – आमिष-यज्ञ और धर्म-यज्ञ।

एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं यागानं यदिदं धम्मयागो।

(अ० नि० १.२.१४३, दानवग्ग)

– इन दोनों में जो धर्म-यज्ञ है वही श्रेष्ठ है, अग्र है।

यहां धर्म-यज्ञ का अभिप्राय शील, समाधि और प्रज्ञा का जीवन जीने से है। यही ऐसा यज्ञ है जिससे सभी पुराने कर्म-संस्कार जल कर भस्म हो जाते हैं और साधक नितांत भव-विमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अग्नि परिचर्या; एक कर्मकांड

तीन प्रकार की अग्नियां

अहिंसक यज्ञ भी यदि केवल अग्नि परिचर्यारूपी कर्मकांड हो तो वह किस काम का? इस विषय पर भगवान ने उद्गतशरीर ब्राह्मण को स्पष्टतया समझाया। उन्होंने तीन प्रकार की अग्नियों को बुझाने और तीन प्रकार की अग्नियों को सतत प्रज्वलित रखने का उपदेश दिया।

तयोमे, ब्राह्मण, अग्गी पहातब्बा परिवज्जेतब्बा न सेवितब्बा।

– ब्राह्मण, इन तीन प्रकार की अग्नियों का त्याग कर देना चाहिए, उन्हें दूर कर देना चाहिए, उनका सेवन नहीं करना चाहिए।

कतमे तयो – कौन सी तीन?

रागग्गि, दोसग्गि, मोहग्गि – राग-अग्नि, द्वेष-अग्नि, मोह-अग्नि।

फिर भगवान ने कहा –

तयो खो ब्राह्मण, अग्गी सक्कत्वा गरुं कत्वा मानेत्वा पूजेत्वा सम्मा सुखं परिहातब्बा।

– ब्राह्मण, तीन अग्नियां ऐसी हैं जिनका सत्कार करना चाहिए, जिनका गौरव करना चाहिए, जिन्हें मान देना चाहिए, जिन्हें पूजना चाहिए तथा जिनका भली प्रकार से सुखपूर्वक वहन करना चाहिए।

कतमे तयो – कौन सी तीन?

आहुनेय्यग्गि, गहपतग्गि, दक्खिणेय्यग्गि।

(अ० नि० २.७.४७, दुतियअग्गिसुत्त)

– आह्वानयोग्य अग्नि, गृहपति अग्नि, दक्षिणार्ह अग्नि।

फिर भगवान ने इन तीनों की इस प्रकार व्याख्या की –

(१) आह्वानयोग्य अग्नि कौनसी होती है?

जो माता-पिता हैं ये सत्कार-भाजन अग्नि हैं, आह्वानयोग्य अग्नि हैं। माता-पिता रूपी अग्नि से ही सबका आना हुआ, जन्म हुआ। इसलिए **इस आहुनेय्य** अग्नि को प्रदीप्तमान रखना चाहिए अर्थात माता-पिता का सतत सत्कार करते रहना चाहिए, इनका गौरव, सम्मान, पूजन करते रहना चाहिए तथा इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए, इनका भरण-पोषण करते रहना चाहिए।

(२) गृहपति अग्नि कौनसी है?

जो पुत्र-कलत्र, दास-नौकर हैं, ये गृहपति अग्नि हैं। इस अग्नि को सतत देदीप्यमान रखना चाहिए। इनका सदा सत्कार, गौरव, सम्मान, पूजन करते रहना चाहिए। इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए, इनका भरण-पोषण करते रहना चाहिए।

(३) दक्षिणार्ह अग्नि कौनसी है?

जो श्रमण, ब्राह्मण विग्रह-विवाद से विरत रहते हैं, क्षमा और विनम्रता में निरत रहते हैं, अपने आपका दमन और शमन करने वाले होते हैं, अपने राग, द्वेष और मोह की अग्नि बुझाकर परिनिर्वाण को प्राप्त करने वाले होते हैं, ये दक्षिणार्ह अग्नि हैं, इसे सदा देदीप्यमान रखना चाहिए। इनका सदा सत्कार, गौरव, पूजन, सम्मान करते रहना चाहिए। इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए। इनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना चाहिए।

गृहस्थों के लिये इन तीनों अग्नियों को सतत प्रदीप्त रखना कितना कल्याणप्रद है! भगवान के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने यही किया।

सुंदरिक भारद्वाज

उन दिनों अनेक लोग अग्नि-परिचर्या के कर्मकांड में ही उलझे हुए थे। वे हिंसक यज्ञ नहीं करते थे, परंतु अहिंसक यज्ञ करते हुए भी उसमें का जो दान पक्ष था उसे भुला दिया था। उनके लिये अग्नि-परिचर्या केवल निरर्थक

कर्मकांड बन कर रह गयी थी। ऐसे कर्मकांड में उलझे हुए सुंदरिक भारद्वाज को भगवान ने समझाया –

मा ब्राह्मण दारु समादहानो, सुद्धिं अमञ्ञि बहिद्धा हि एतं।
न हि तेन सुद्धिं कुसला वदन्ति, यो बाहिरेन परिसुद्धिमिच्छे॥

– हे ब्राह्मण, इन लकड़ियों को जलाने में तुम अपनी शुद्धि मत मान बैठो। यह तो मात्र बाहरी कर्मकांड है। जो इन बाहरी क्रियाओं द्वारा अपनी शुद्धि की कामना करते हैं उन्हें कुशलमार्गी विज्ञजन इस कर्मकांड से शुद्ध होना नहीं बताते।

– हे ब्राह्मण, मैं यह दारुदाह छोड़ कर अपने भीतर की ज्योति जलाता हूं। मेरे भीतर यह ज्योतिर्मय अग्नि सतत जलती रहती है। चित्त सतत समाहित रहता है। मैं अरहंत हूं। ब्रह्मचर्य का जीवन जीता हूं।

भीतर की अग्नि क्या है? और उसमें क्या जलाया जाता है? इसे समझाते हुए भगवान ने कहा –

मानो हि ते ब्राह्मण खारिभारो, कोधो धुमो भस्मनि मोसवज्जं।
जिव्हा सुजा हदयं जोतिठानं, अत्ता सुदन्तो पुरिसस्स जोति॥

(सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

– हे ब्राह्मण, अभिमान ही खरिया भरा अन्न है; क्रोध धूआं है; मिथ्या वचन भस्म है; जिव्हा स्रुवा है और हृदय अग्नि प्रज्वलित करने का स्थान यानी हवन-कुंड है। आत्म-दमन ही मनुष्य की प्रज्वलित ज्योति है।

सुंदरिक को सही मार्ग मिला। उसका कल्याण हुआ।

अग्गिक भारद्वाज

अग्गिक भारद्वाज कुक्कुठानगर के ब्राह्मण कुल में जन्मा था। वह ब्राह्मणों के शास्त्रों में पारंगत था। वयस्क होने पर घर-बार छोड़कर वह वन में कठिन तपश्चर्या करने के लिए चला गया। वहां वह अग्नि की उपासना करने लगा। उसकी मान्यता थी कि इससे उसकी शुद्धि होगी यानी विकारों से विमुक्ति होगी। उसे अमरत्व प्राप्त होगा। सौभाग्य से वह भगवान के

संपर्क में आया। उनकी कल्याणी वाणी सुनी और शील, समाधि, प्रज्ञारूपी विमुक्ति मार्ग को स्वीकार कर विपश्यना का अभ्यास करते हुए वह नितांत विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ, अरहंत हुआ। यों मिथ्या कर्मकांडों से छुटकारा पाकर अत्यंत संतुष्ट-प्रसन्न हुआ। उसने देखा कि उसके अनेक ब्राह्मण-बंधु गलत रास्ते पर पड़े हैं। उनके प्रति करुणा का भाव जगा कर वह उन्हें उद्बोधन देने गया। उनमें से कुछ एक ने उसकी तीव्र भर्त्सना की। परंतु अनेक संगी-साथी उन निरर्थक कर्मकांडों से छुटकारा पाकर मुक्ति के सही मार्ग पर आरूढ़ हो गये। उन ब्राह्मणबंधुओं को उसने जो अपने अनुभव सुनाये, वे हर्षमय उद्गार मुक्तिपथ के इतिहास में चिरस्थायी प्रकाश-स्तंभ बन गये। उसने कहा –

अयोनि सुद्धिमन्वेसं, अग्गिं परिचरिं वने।

– अज्ञानपूर्वक आत्मशुद्धि की गवेषणा करता हुआ मैं वन में अग्नि-परिचर्या करता रहा।

सुद्धिमग्गं अजानन्तो, अकासिं अमरं तपं॥

– वास्तविक विशुद्धि मार्ग को नहीं जानते हुए अमरत्व के लिए मैंने कठोर तप किया।

तं सुखेन सुखं लद्धं, पस्स धम्मसुधम्मतं।

– (शरीर सुखाने वाले उस कठिन अग्नि तप को त्याग कर) मैंने सरलता से ही, सुखपूर्वक परम सुख प्राप्त कर लिया। अहो, देखो, धर्म की सुधर्मता!

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

– मैंने बुद्ध की शासन-शिक्षा पूरी करते हुए तीनों विद्याएं प्राप्त कर लीं।

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, इदानि खोम्हि ब्राह्मणो।

– पहले मैं (नाम का) ब्रह्मबंधु ब्राह्मण था, अब (यथार्थतः) ब्राह्मण हूं।

तेविज्जो न्हातको चम्हि, सोत्तियो चम्हि वेदगू॥

(थेरगा० २१९-२२१, अङ्गणिकभारद्वाजत्थेरगाथा)

– अब मैं सही माने में त्रैविद्य हूं, स्नातक हूं, श्रोत्रिय हूं, वेदज्ञ हूं।

उरुवेल काश्यप

उरुवेल काश्यप अपने पांच सौ शिष्यों के साथ अग्नि-परिचर्या में लगा हुआ था। उसका छोटा भाई नदी काश्यप तीन सौ शिष्यों के साथ और दूसरा भाई गया काश्यप दो सौ शिष्यों के साथ इसी अग्नि-परिचर्या में लगा हुआ था। उरुवेल काश्यप भगवान के संपर्क में आया, परंतु उसे अपने मार्ग पर अटूट विश्वास था। इस कारण मन में बड़ा अहंकार था। वह अपने आपको जीवन्मुक्त अरहंत मानता था। अतः भगवान में प्रातिहार्यों के, ऋद्धियों के विशिष्ट गुण देखते हुए भी उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सका। लेकिन कुछ समय पश्चात जब उसे भगवान की कल्याणी-वाणी समझ में आ गयी तब उस जटिल संन्यासी ने अपने पांच सौ शिष्यों सहित जटाएं, दाढ़ी, मूंछ मुंडवा ली और अग्निहोत्र की सारी सामग्रियां निरंजना नदी में बहा कर, भगवान की बतायी हुई साधना में लग कर कृत-कृत्य हुआ, भवमुक्त हुआ, जीवन्मुक्त हुआ। उस समय उसके मुँह से धर्म के ये उद्गार निकले –

यशस्वी गौतम की ऋद्धियों को देख कर भी ईर्ष्या और अभिमान के कारण मैं उन्हें नमन न कर सका। मेरे मनोचिंतन को जान कर उन नरसारथी ने मुझे मेरा दोष दिखाया और इससे मुझे धर्म-संवेग हुआ और अद्भुत रोमांच हुआ।

पुब्बे जटिलभूतस्स, या मे सिद्धि परित्तिका।
ताहं तदा निराकत्वा, पब्बजिं जिनसासने॥

– पहले जटा-जूटधारी रहते मुझे जो सम्मान-सत्कार मिलता था, उसे त्याग कर मैं जिन शासन में प्रव्रजित हुआ।

पुब्बे यञ्ञेन सन्तुट्ठो, कामधातुपुरक्खतो।

– पहले काम लोकों की आशा में यज्ञ से संतुष्ट रहता था,

पच्छा रागञ्च दोसञ्च, मोहञ्चापि समूहनिं॥

– बाद में राग, द्वेष और मोह को मैंने समूल नष्ट कर दिया।

यस्स चत्थाय पब्बजितो, अगारस्मानगारियं।
सो मे अत्थो अनुप्पत्तो, सब्बसंयोजनक्खयो॥

(थेरगा० ३७७, ३७८, ३८० उरुवेळकस्सपत्थेरगाथा)

– सारे बंधनों से विमुक्त होने के जिस उद्देश्य से घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुआ था, उसे मैंने प्राप्त कर लिया।

अग्नि-परिचर्या में संलग्न अधिकांश लोग **कामधातु पुरक्खतो** ही हुआ करते थे। उनका एकमात्र लक्ष्य मृत्यु के बाद किसी कामभोगमय देवलोक में जन्म लेना ही था जिसे कि वे अज्ञानतावश अमर मानते थे। इस कर्मकांड का कोई सांदृष्टिक लाभ तो था नहीं। केवल संपरायिक यानी परलोक के लाभ की आशा में ये लोग अपना सारा जीवन बिता देते थे, जब कि शील, समाधि, प्रज्ञा का धर्म-यज्ञ सांदृष्टिक फलदायी होता है। अभी इसी जीवन में फल देता है। यहीं चित्त की शुद्धि आरंभ हो जाती है। इस धर्म-यज्ञ द्वारा अनेक लोग मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हुए। कइयों ने इसी जीवन में मुक्त अवस्था का साक्षात्कार किया।

नदी काश्यप

अपने बड़े भाई के समान मुक्त अवस्था प्राप्त करके छोटे भाई नदी काश्यप ने जो उद्गार प्रकट किये, वे बुद्ध और उनकी शिक्षा की महानता के मंगल उद्घोष हैं। उसने कृतज्ञता-भरे हृदय से कहा – मानो मेरे लिए ही बुद्ध निरंजना नदी के तट पर आये। उनसे धर्मदेशना सुन कर मैंने मिथ्यादृष्टि का त्याग कर दिया।

यजिं उच्चावचे यञ्ञे, अग्गिहुत्तं जुहिं अहं।
एसा सुद्धीति मञ्ञन्तो, अन्धभूतो पुथुज्जनो॥

– इन्हें शुद्धि का कारण मान कर मैंने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया और अग्नि-होत्र किया। मैं अंधा था, धर्म से पृथक पड़ा हुआ था।

असुद्धिं मञ्ञिसं सुद्धिं, अन्धभूतो अविद्दसु।

– अशुद्धि को शुद्धि मानता हुआ मैं अंधा था, अनजान था।

जुहामि दक्खिणेय्यग्गिं, नमस्सामि तथागतं।

– अब मैं दक्षिणार्ह अग्नि की उपासना करता हूं, तथागत को नमस्कार करता हूं।

मोहा सब्बे पहीना मे, भवतण्हा पदालिता।
विक्खीणो जातिसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो॥

(थेरगा० ३४१-३४४, नदीकस्सपत्थेरगाथा)

– मेरे सारे मोह नष्ट हो गये हैं। भव-तृष्णा विदीर्ण हो गयी है। भव-संसरण समाप्त हो गया है। अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है।

मिथ्या मान्यताओं और कर्मकांडों के जंजाल से निकल कर अपने भाई की भांति नदी काश्यप भी कृत-कृत्य हुआ, भवमुक्त हुआ, अरहंत हुआ।

संगारव

कुछ लोगों की मान्यता में अग्नि यज्ञ करना-कराना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सत्कर्म था। गृह त्याग कर मुक्ति बोध में लग जाने को वे एकांशी पुण्य कर्म मानते थे। संगारव ब्राह्मण उनमें से एक था। वह भगवान के पास आया, तो उसने यही प्रश्न उठाया। उसने कहा – हम ब्राह्मण यज्ञ करते भी हैं, कराते भी हैं। हम अनेक लोगों के भले का काम करते हैं या यों कहें, हम अनेक व्यक्तियों के पुण्यलाभ के मार्ग का अनुगमन करते हैं, परंतु जो लोग घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित होते हैं, वे केवल अपना ही दमन-शमन करते हैं, अपनी ही मुक्ति के काम में रत रहते हैं। वे अकेले ही परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। अतः प्रव्रजित होना केवल एक व्यक्ति के लाभ का मार्ग है या यों कहें, वह एक शरीर वाला पुण्य मार्ग है, एकांगी पुण्य-मार्ग है; जबकि हमारा अनेकांगी पुण्य-मार्ग है।

उसकी इस मिथ्या मान्यता का खंडन करते हुए भगवान ने उसे समझाया कि कोई एक व्यक्ति अपने श्रम द्वारा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तथागत हो जाता है, तो यह लाभ वह अपने तक सीमित नहीं रखता। बड़े करुण चित्त से उसे बांटता है। जिस मार्ग पर चल कर वह स्वयं विद्याचरणसंपन्न हुआ, उसी मार्ग को आख्यात करता है। उस पर चलने के लिए लोगों को प्रेरित करता है। तथागत की देशना के अनुसार अनेक लोग आचरण करते हैं और यहीं इसी जीवन में अपना कल्याण साध लेते हैं। ऐसे लोग–

तानि खो पन होन्ति अनेकानिपि सतानि अनेकानिपि सहस्सानि अनेकानिपि सतसहस्सानि। (अ० नि० १.३.६१, सङ्गारवसुत्त)

– अनेक सौ भी होते हैं, अनेक सहस्र भी होते हैं, अनेक लाख भी होते हैं।

यह सुन कर ब्राह्मण संगारव ने स्वीकार किया कि प्रव्रज्या का पथ भी एकांशी नहीं, बल्कि अनेक व्यक्तियों के कल्याण के लिए अनेकांशी पुण्य पथ है। तब पास बैठे आनंद ने संगारव से पूछ लिया – यज्ञ और प्रव्रज्या इन दोनों में कौन-सा मार्ग कम खर्चीला है, कम झंझटिया है और अधिक फल देने वाला है, अधिक परिणाम देने वाला है? संगारव समझते हुए भी इस प्रश्न का उत्तर टालने लगा, तब भगवान ने समझाया कि प्रव्रज्या-मार्ग पर चलने में तीन प्रकार के प्रातिहार्य (असाधारण ऋद्धियां) प्राप्त होते हैं। जैसे कि–

(१) ऋद्धि प्रातिहार्य – ऋद्धि के बल पर अनेक प्रकार के चमत्कारों का अनुभव करता है। जैसे एक से अनेक और अनेक से पुनः एक होना। अंतर्धान होना, प्रकट होना, आकाश में उड़ना, पानी पर चलना, जमीन में डुबकी लगाना आदि-आदि।

(२) देशना प्रातिहार्य – ऐसी सिद्धि प्राप्त करता है जिससे परचित्त ज्ञान उपजता है और दूसरे के चित्त में जो विचार चलता है, उसे प्रकाशित कर दे सकता है।

(३) अनुशासनी प्रातिहार्य – धर्म की ऐसी कल्याणी शिक्षा देने की क्षमता प्राप्त करता है कि चिंतन-मनन के स्तर पर ही नहीं बल्कि व्यवहार के

स्तर पर जो करणीय है उसे करने की और जो अकरणीय है, उसे न करने की प्रेरणा देता है, उसका उचित मार्गनिर्देशन करता है।

संगारव ने इस तीसरी ऋद्धि को अधिक कल्याणकारिणी माना और तब उसने पूछा कि हे गौतम, क्या आप गौतम के अतिरिक्त कोई दूसरा भिक्षु भी ऐसा है, जो इन तीनों प्रातिहार्यों से संपन्न है?

तब भगवान ने इसका उत्तर देते हुए बताया –

न खो, ब्राह्मण, एकंयेव सतं, न द्वे सतानि, न तीणि सतानि, न चत्तारि सतानि, न पञ्च सतानि, अथ खो भिय्योव, ये भिक्खू इमेहि तीहि पाटिहारियेहि समन्नागताति।

– हे ब्राह्मण, न केवल एक सौ, न दो सौ, न तीन सौ, न चार सौ, न पांच सौ बल्कि इससे भी कहीं अधिक ऐसे भिक्षु हैं, जो इन प्रातिहार्यों से संपन्न हैं।

यह सुन कर संगारव ने पुनः प्रश्न किया कि ऐसे ऋद्धिमान भिक्षु कहां देखे जा सकते हैं? वे कहां विहार करते हैं?

उस समय भगवान एक विशाल भिक्षु संघ के साथ चारिका कर रहे थे। उन्होंने कहा –

इमस्मियेव खो, ब्राह्मण, भिक्खुसङ्घे। (अ० नि० १.३.६१, सङ्गारवसुत्त)

– ब्राह्मण, इसी भिक्षु संघ में (उन्हें देखा जा सकता है)।

ब्राह्मण संगारव यह सुन कर अत्यंत आश्चर्यचकित हुआ और ऐसी आशुफलदायिनी मंगलमयी शिक्षा का लाभ उठाने के लिए तत्काल भगवान का श्रद्धालु उपासक बन गया।

वत्सगोत्र (वच्छगोत्त)

उन दिनों लोगों में यह अंध-विश्वास फैला हुआ था कि भिन्न-भिन्न कर्मकांड अथवा उपक्रमों के साधन द्वारा मरणोपरांत विशुद्धि यानी विमुक्ति प्राप्त होती है। अनेक यह नहीं जानते थे कि ऐसी भी कोई विद्या है जो यहीं इसी जीवन में विमुक्ति रस चखाती है और इसके अभ्यास द्वारा अनेक लोगों

ने विमुक्ति रस चखा भी है। वत्सगोत्र नामक एक ऐसा ही भ्रांत व्यक्ति भगवान के पास आया और उसने भगवान की शिक्षा के व्यापक प्रसार पर अपना अज्ञान प्रकट किया। तब भगवान ने उसे समझाया –

एक नहीं, सौ नहीं, दो सौ नहीं, तीन सौ नहीं, चार सौ नहीं, पांच सौ नहीं बल्कि उससे भी कहीं अधिक भिक्षु उनकी शिक्षा का अनुगमन कर मुक्त अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं।

इसी प्रकार पांच सौ से भी कहीं अधिक भिक्षुणियां मुक्त अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुकी हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारी गृही उपासक अनागामी अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। वे अब इस कामलोक में पुनः जन्म लेनेवाले नहीं हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारिणी गृही उपासिकाएं अनागामी अवस्था प्राप्त कर चुकी हैं। वे अब इस कामलोक में पुनः जन्म लेनेवाली नहीं हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारी गृही उपासक सकदागामी या स्रोतापन्न हैं। वे (मुक्ति के स्रोत में पड़ गये हैं; स्वयं निर्वाण का साक्षात्कार कर चुके हैं, अतः) सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान हैं।

और पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारिणी उपासिकाएं हैं, जो सकदागामी हैं या स्रोतापन्न हैं। वे (मुक्ति के स्रोत में पड़ गयी हैं; स्वयं निर्वाण का साक्षात्कार कर चुकी हैं, अतः) सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान हैं।

यह सुन कर वत्सगोत्र को विश्वास हुआ कि भगवान की शिक्षा सर्व प्रकार से परिपूर्ण है। इससे केवल शास्ता ही नहीं बल्कि उनके लाखों श्रावक भी लाभान्वित हुए हैं। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर उसने भगवान की शरण ग्रहण की और स्वयं प्रव्रजित होकर, उनसे विपश्यना साधना सीख कर, उसका निरंतर अभ्यास करते हुए अचिरकाल में ही कृत-कृत्य हुआ, मुक्त अवस्था प्राप्त कर अरहंत हुआ।

अपनी मुक्ति के उद्गार प्रकट करते हुए वत्सगोत्र ने कहा –

परिचिण्णो मे भगवा, परिचिण्णो मे सुगतो।

(म० नि० २.२००, महावच्छसुत्त)

– मैंने भगवान की महानता को पहचान लिया है, मैंने सुगत की महानता को पहचान लिया है।

जिस साधना का अभ्यास कर अकेला शास्ता ही मुक्त हो, वह लोकमंगलकारी कैसे होगी? भगवान द्वारा सिखायी हुई साधना केवल उनकी ही नहीं बल्कि उनके जीवनकाल में ही अनेकों की मुक्ति का कारण बनी। अन्य अनेक प्रसंगों में भी भगवान ने साधना-फल प्राप्त अनेक श्रावकों की संख्या गिनायी है।

आयुष्मान नंदक की शिष्याएं

आयुष्मान नंदक की शिष्याओं के बारे में एक बार भगवान ने यह घोषणा की –

तासं, भिक्खवे, पञ्चन्नं भिक्खुनिसतानं या पच्छिमिका भिक्खुनी सा सोतापन्ना अविनिपातधम्मा नियता सम्बोधिपरायना।

(म० नि० ३.४१५, नन्दकोवादसुत्त)

– भिक्षुओ, उन पांच सौ भिक्षुणियों में से जो सबसे पिछड़ी है, वह भी स्रोतापन्न है, अधोगति से विमुक्त है, निर्वाण नियत है, संबोधिपरायण है।

पांच सौ भिक्षु

एक बार भगवान पांच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ विहार कर रहे थे। तब किसी प्रसंगवश उन्होंने आनंद से कहा –

इमेसं हि, आनन्द, पञ्चन्नं भिक्खुसतानं यो पच्छिमको भिक्खु; सो सोतापन्नो अविनिपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणोति।

(दी० नि० २.२१७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, इन पांच सौ भिक्षुओं में से जो सबसे पिछड़ा है, वह भी स्रोतापन्न है, अधोगति से विमुक्त है, निर्वाण नियत है, संबोधिपरायण है।

अनेक अरहंत

ऐसा ही एक प्रसंग हम और देखते हैं। उन दिनों भगवान राजगृह के कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे। प्रातः गोचरी के लिए जाने के पूर्व समीप के मोरनिवाप में जा निकले। यह सकुलुदायी का परिव्राजकाराम था। सकुलुदायी ने सम्मान के साथ भगवान को ऊंचे आसन पर विठाया और स्वयं नीचे आसन पर बैठ कर उनसे वार्त्तालाप करने लगा।

सकुलुदायी ने इस बात की प्रशंसा की कि भगवान का श्रावक संघ अत्यंत अनुशासित है और भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु है। यह भगवान जैसे शास्ता की महानता के कारण ही है। भगवान ने उसे समझाया कि संघ के अनुशासित होने का प्रमुख कारण यह है कि भगवान स्वयं अनुशासन का जीवन जीते हैं और उनकी श्रद्धा का प्रमुख कारण है भगवान द्वारा दी गयी धर्मशिक्षा। उन्होंने इसे विस्तार से समझाया। यह चर्चा समाप्त करते हुए भगवान ने कहा –

न खो पनाहं, उदायि, सावकेसु अनुसासनिं पच्चासीसामि।

– उदायि, मैं श्रावकों में अनुशासन की आकांक्षा नहीं करता।

अञ्ञदत्थु ममयेव सावका अनुसासनिं पच्चासीसन्ति।

(म० नि० २.२४५, महासकुलुदायिसुत्त)

– बल्कि श्रावक मेरे ही अनुशासन का इंतजार करते हैं और वे उसे इसी प्रकार दोहराते हैं।

शास्ता स्वयं अनुशासित जीवन नहीं जीयेगा तो श्रावकों को किस बलबूते पर अनुशासित कर सकेगा भला!

और फिर शिक्षा भी ऐसी गंभीर दी जाती थी कि जिसका पालन करने वाला व्यक्ति शास्ता जैसी जीवनमुक्त अवस्था स्वयं प्राप्त कर लेता था और स्वभावतः अनुशासित हो जाता था। इस संदर्भ में भगवान ने कहा –

तत्र च पन मे सावका बहू अभिञ्ञावोसानपारमिप्पत्ता विहरन्ति।

(म० नि० २.२४७, महासकुलुदायिसुत्त)

– वहां इस धर्मशिक्षा में मेरे बहुत से श्रावक **अभिञ्ञावोसान** हैं, अभिज्ञा पारमी प्राप्त कर विहार करते हैं।

यह भव-मुक्त अरहंतों की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचे हुए व्यक्ति को सायास अनुशासित नहीं होना पड़ता। वह स्वभाव से ही अनायास अनुशासित जीवन जीता है। यही पुरातन आर्य परंपरा है। भगवान इसी पुरातन आर्य परंपरा वाले आर्य-धर्म को पुनः संस्थापित किया चाहते थे। सारा भारतीय समाज निकम्मी, निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं में उलझ गया था। कर्मकांडों में जकड़ गया था। विषैले जातिवाद में आकंठ डूब गया था। शुद्ध धर्म से पृथक पड़ गया था। उसे पुनः धर्म के मार्ग पर आरूढ़ करना था, प्रतिष्ठित करना था। ब्राह्मण वर्ग बहुत शिक्षित होने के कारण समाज का अग्रणी था और यही वर्ग धर्मच्युत हुए जा रहा था। उसके पतन से सारे समाज का पतन हो रहा था। उसके उत्थान में सारे समाज का उत्थान समाया हुआ था। उन्हें सही मार्ग पर आरूढ़ किए बिना समाज के अन्य वर्गों का उत्थान कठिन था, क्योंकि वे ही समाज का नेतृत्व करते थे। अतः उन भटके हुओं को सही मार्ग दिखाना आवश्यक था। भगवान ने अत्यंत करुण चित्त से यही किया।

भगवान के इस कुशल अभियान से अनेक लोगों का कल्याण हुआ, उनकी धर्म शिक्षा से अनेक लोग लाभान्वित हुए। परंतु कुछ ऐसे लोग भी थे, जो इस शिक्षा से कुपित होते थे और अपना कोप भगवान की निंदा करके प्रकट करते थे।

सुभ माणवक

एक बार तोदेय्य पुत्र सुभ माणवक श्रावस्ती के जेतवन विहार में भगवान से मिलने आया। उसने भगवान से कहा – ब्राह्मण ऐसा मानते हैं कि गृहस्थ ही परमार्थ सत्य का परम ज्ञान प्राप्त कर सकता है, प्रव्रजित नहीं। अधिकतर ब्राह्मण गृहस्थ थे जबकि सभी श्रमण प्रव्रजित थे।

भगवान ने उसे समझाया कि शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलें तो दोनों ही उस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। अशुद्ध मार्ग पर चलें, तो दोनों ही प्राप्त नहीं कर सकते।

तदनंतर सुभ माणवक ने कहा कि सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग, इन पांच धर्मों का ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं।

भगवान ने पूछ लिया कि क्या वे इन पांचों का स्वयं अनुभव करके इनके शुभ फलों का प्रज्ञापन करते हैं?

सुभ को उत्तर देना पड़ा कि ऐसा तो नहीं है।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि क्या उनके पुरखों ने भी इस बात का दावा किया था कि वे स्वयं अनुभव करके ही इसका शुभ फल प्रज्ञापित करते हैं?

सुभ के पास इसका भी नकारात्मक ही उत्तर था। इस उत्तर को सुन कर भगवान ने कहा कि यह तो अंध-वेणी परंपरा हुई; अंधों की कतार हुई जिसमें न आगे वाला, न बीच वाला और न पीछे वाला ही देख पाता है। जिस सच्चाई को किसी ने देखा नहीं, उसे अपनी अनुभूति पर उतारा नहीं, उसका कोई कैसे प्रज्ञापन कर सकता है?

यह सुन कर सुभ माणवक चिढ़ उठा, कुपित हो उठा, खिसिया उठा और नाराज होकर यह मान बैठा कि–

समणो गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गौतम पापी है।

(म० नि० २.४६६, सुभसुत्त)

और फिर अपना कोप प्रकट करता हुआ कह उठा कि–

उक्कट्ठा के सुभगवन का स्वामी ब्राह्मण औपमन्यव पौष्करसाति ऐसा मानता है कि लोग उत्तर-मनुष्य-धर्म यानी अलौकिक शक्ति और निर्वाण की अनुभूति का मिथ्या दावा करते हैं। यह अवस्था किसी को प्राप्त नहीं है।

इस पर भगवान ने पूछ लिया कि क्या औपमन्यव पौष्करसाति सभी श्रमण ब्राह्मणों के चित्त की बात जान गया है?

इसके उत्तर में सुभ माणवक को कहना पड़ा कि वह अपनी दासी पूर्णिमा के मन की बात भी नहीं जान सकता। सभी श्रमण ब्राह्मणों के मन की बात वह भला क्या जाने!

गरज यह कि अनेक लोग भगवान की महानता को समझते हुए भी अपने हीन भाव के कारण खिसिया कर ऐसी बातें कह जाते थे। भगवान अनुभव को महत्त्व देते थे। लोग परंपरागत मान्यता की सुनी-सुनायी बातों पर केवल चर्चा करने को महत्त्व देते थे। जब यह तथ्य सामने आता तब वे खिसिया उठते थे।

जानुस्सोणि ब्राह्मण

इसी प्रकार खिसियाया हुआ जानुस्सोणि ब्राह्मण भगवान पर आक्षेप करता हुआ बोल उठा–

भवम्पि नो गोतमो ब्रह्मचारी पटिजानाति।

– क्या आप गौतम भी अपने आपको ब्रह्मचारी मानते हैं?

इसके उत्तर में भगवान ने सहज भाव से कहा–

अहं हि, ब्राह्मण, अखण्डं अच्छिद्दं असबलं अकम्मासं परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरामि।

(अ० नि० २.७.५०, मेथुनसुत्त)

– हे ब्राह्मण, मैं अखंडित, अछिद्र, निर्दोष, निष्कलंक, परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता हूं।

ऐसी और इस जैसी अनेक बातों का सामना करते हुए भी भगवान अविचलित रह कर करुण चित्त से लोक कल्याण में लगे रहे।

श्रामण्य ब्राह्मण्य की पुनर्स्थापना

भगवान का लक्ष्य स्पष्ट था। ब्राह्मणों ने अपना ब्राह्मण्य खो दिया था। उनको पुनः ब्राह्मण्य में स्थापित करना था। श्रमणों ने अपना श्रामण्य खो दिया था। उनको पुनः श्रामण्य में स्थापित करना था। भगवान ने समझाया कि–

यतो खो, कस्सप, भिक्खु अवेरं अब्यापज्जं मेत्तचित्तं भावेति,

– हे काश्यप, जब भिक्षु वैर और द्रोह छोड़ कर मैत्री भावना करता है,

आसवानञ्च खया अनासवं चेतोविमुत्तिं पञ्ञाविमुत्तिं दिट्ठेव धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरति।

– तब चित्त मलों के क्षय होने से चित्त की निर्मलता से प्राप्त हुई विमुक्ति और प्रज्ञा से प्राप्त हुई विमुक्ति को इसी जीवन में स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, विहार करता है।

अयं वुच्चति, कस्सप, भिक्खु समणो इतिपि ब्राह्मणो इतिपि।

– हे काश्यप, वस्तुतः वही भिक्षु श्रमण कहलाता है, ब्राह्मण कहलाता है।

उन दिनों ब्राह्मण अथवा श्रमण कहलाने वाले अधिकतर लोग इस व्याख्या से बहुत दूर पड़ गये थे। धर्म की इस सही व्याख्या के अनुसार वे ब्राह्मण अथवा श्रमण कहलाने योग्य नहीं थे। भगवान ने समझाया –

तस्स चायं सीलसम्पदा चित्तसम्पदा पञ्ञासम्पदा अभाविता होति असच्छिकता,

– वह जो शीलसंपदा, ध्यानसंपदा और प्रज्ञासंपदा की भावना नहीं करता, उनका साक्षात्कार नहीं करता,

अथ खो सो आरकाव सामञ्ञा आरकाव ब्रह्मञ्ञा।

(दी० नि० १.३१७, महासीहनादसुत्त)

– वह श्रामण्य से दूर है, वह ब्राह्मण्य से दूर है।

श्रमण का श्रामण्य इसी में है कि वह सुशील हो, ध्यानी हो, स्थितप्रज्ञ हो। ब्राह्मण का ब्राह्मण्य भी इसी में है कि वह सुशील हो, ध्यानी हो, स्थितप्रज्ञ हो। श्रमण श्रामण्य में स्थापित हों, ब्राह्मण ब्राह्मण्य में स्थापित हों; भगवान को यही अभीष्ट था और वे अत्यंत करुणाचित्त से इसी दिशा में प्रयत्नशील रहे।

अधिकतर ब्राह्मण सही ब्राह्मणत्व से बहुत दूर थे। तीनों वेदों का पाठ करने के कारण वह अपने आपको त्रैविद्य मानते थे और इसी कारण अपने आपको महान मानते थे। वे नाना प्रकार के कर्मकांडों में उलझे थे। सही ब्राह्मण बनाने वाले धर्म वे छोड़ चुके थे। इसी ओर संकेत करते हुए किसी एक प्रसंग में भगवान ने कहा –

तेविज्जा ब्राह्मणा ये धम्मा ब्राह्मणकारका ते धम्मे पहाय वत्तमाना,

– त्रैविद्य ब्राह्मण, जो ब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उन्हें छोड़ कर,

ये धम्मा अब्राह्मणकारका ते धम्मे समादाय वत्तमाना एवमाहंसु।

– जो अब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उनसे युक्त होते हुए कहते हैं –

इन्दमव्हयाम, सोमव्हयाम, वरुणमव्हयाम, ईसानमव्हयाम, पजापतिमव्हयाम, ब्रह्ममव्हयाम, महिद्धिमव्हयाम, यममव्हयाम।

(दी० नि० १.५४४, तेविज्जसुत्त)

– हम इंद्र का आह्वान करते हैं, सोम का, वरुण का, ईशान का, प्रजापति का, ब्रह्मा का, महर्द्धि का, यम का आह्वान करते हैं।

आह्वान करने मात्र से इन देव ब्रह्माओं की प्राप्ति कैसे हो सकती है भला? भगवान ने समझाया कि जैसे कोई नदी के इस तट पर खड़ा हो और परले तट को आह्वान करे – ऐ नदी के परले तट, तू यहां आजा। तो क्या आह्वान करने मात्र से परला तट इस तट पर खड़े व्यक्ति के पास चला आयेगा? परले तट का दर्शन करना हो तो नदी को स्वयं पार करना होता है। परंतु पार कैसे करे? इस तट वाले जिस व्यक्ति के हाथ पीछे की ओर सांकल से और किसी मजबूत खूंटे से बँधे हों, वह पार कैसे पहुँचेगा? यानी जो व्यक्ति विकारों से बँधा हो, वह ब्रह्मा से कैसे मिल पायेगा भला? जो व्यक्ति इसी तट पर कपड़े से शरीर और मुँह ढक कर सोया हो, वह परले तट तक कैसे पहुँच पायेगा भला? यानी जो व्यक्ति पांचों नीवरणों से आवृत हो, आवद्ध हो, वह आवरणहीन ब्रह्मा को साक्षात कैसे देख सकेगा भला?

ब्रह्मा अपरिग्रही है और जो ब्राह्मण परिग्रही हैं वे ब्रह्मा के समीप कैसे पहुँच सकते हैं? ब्रह्मा वीतराग है, वीतद्वेष है, वीतक्लेश है। जो ब्राह्मण रागयुक्त हैं, द्वेषयुक्त हैं, क्लेशयुक्त हैं उनका ब्रह्मा से कैसे मिलाप हो सकता है? ऐसे किसी ब्राह्मण के लिए या यों कहें, ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए ब्रह्मा की सलोकता यानी उसके साथ मेल होना संभव नहीं है।

उन दिनों भगवान ने त्रैविध ब्राह्मणों के बारे में कहा कि वे मार्ग से भटक कर विपत्ति को प्राप्त हो गये हैं। वे मानो सूखे में तैरने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इदं तेविज्जानं ब्राह्मणानं तेविज्जाइरिणन्तिपि वुच्चति, तेविज्जाविवनन्तिपि वुच्चति, तेविज्जाब्यसनन्तिपि वुच्चति। (दी० नि० १.५५२, तेविज्जसुत्त)

इन त्रैविध ब्राह्मणों की त्रिविद्या को वीरान कांतार भी कह सकते हैं, निर्जन वन भी कह सकते हैं, दुर्भाग्य भी कह सकते हैं।

ब्रह्म सलोकता

एक बार वासिष्ठ और भारद्वाज भगवान से मिलने आये। वासिष्ठ आचार्य पौष्करसाति का शिष्य था और भारद्वाज आचार्य तारुक्ष का। उनका कहना था कि ब्रह्मलोक तक पहुँचने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छांदोग्य ब्राह्मण, छंदावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण आदि अलग-अलग ब्राह्मण अलग-अलग मार्ग बताते हैं। परंतु भारद्वाज का दावा था कि उसके गुरु तारुक्ष की जो मान्यता है, वही मार्ग सीधा और गंतव्य तक शीघ्र पहुँचाने वाला है, जबकि वासिष्ठ का दावा था कि उसके गुरु पौष्करसाति की जो मान्यता है, वही मार्ग सीधा और शीघ्र पहुँचाने वाला है।

उनकी बात सुन कर भगवान ने पूछ लिया कि क्या इनमें से किसी भी मार्ग को अपना कर, आज के त्रैविध ब्राह्मणों में से किसी एक ने भी ब्रह्मा को अपनी आंखों से देख लिया है?

दोनों ने कहा – नहीं, हे गौतम, ऐसा दावा तो कोई नहीं करता।

भगवान ने फिर पूछा कि क्या इन आचार्य, प्राचार्यों की सात पीढ़ी तक भी किसी ने ब्रह्मा को अपनी आंखों से देख लेने का दावा किया है?

उत्तर था – नहीं, हे गौतम।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि इन त्रैविध ब्राह्मणों के पुरातन पूर्वज – अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगीरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप और भृगु – जिनके गीतों का अनुगान आज के ब्राह्मण करते हैं, जिनके भाषित वचनों का अनुवाचन करते हैं, क्या उन्होंने भी यह दावा किया था कि जो ब्रह्मा है, उसे हम जानते हैं, उसे हमने देखा है?

उत्तर मिला – नहीं, हे गौतम।

इस पर भगवान ने कहा – कैसी विचित्र स्थिति है! कैसी विडंबना है! जिसे स्वयं न देखा, न जाना उस तक पहुँचने का मार्ग उपदेशते हैं। यह तो अंध-वेणी परंपरा हुई। जैसे अंधों की पांति एक दूसरे से जुड़ी हो। न आगे वाला देख सकता है, न बीच वाला, न पीछे वाला। जिस चांद-सूरज को सब देखते हैं, वहां तक भी पहुँचने का मार्ग नहीं जानते। तो जिस ब्रह्मा को और ब्रह्मलोक को देखा ही नहीं, वहां तक पहुँचने का मार्ग ये कैसे बताते हैं भला?

जैसे कोई व्यक्ति किसी देश की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी को प्राप्त करने की कामना करता है, परंतु यह भी नहीं जानता कि वह कौन है। क्षत्रियाणी है या ब्राह्मणी? वैश्याणी है या शूद्राणी? यह भी नहीं जानता कि उसका क्या नाम है, क्या गोत्र है। यह भी नहीं जानता कि वह लंबी है या मँझोली है, या नाटी। गोरी है या सांवली? जिसे जानता नहीं, जिसे कभी देखा नहीं, उसे प्राप्त करने की कामना करता है तो यह अत्यंत हास्यास्पद बात ही होगी।

जैसे कोई व्यक्ति चौराहे पर आकर किसी महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी बनाना चाहता हो, परंतु यह भी नहीं जानता कि वह महल कौन सा है। कैसा है? पूर्व दिशा में है कि पश्चिम दिशा में? उत्तर दिशा में है कि दक्षिण दिशा में? वह ऊँचा है, नीचा या मँझोला? जिसे कभी देखा नहीं,

जिसे कभी जाना नहीं, उस महल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बना रहा हो, तो यह अत्यंत हास्यास्पद बात ही होगी।

यह सुन कर उन ब्राह्मण युवकों ने भगवान से पूछा कि क्या आप ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग बता सकते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया- किसी गांव का व्यक्ति पड़ोसी गांव में बार-बार आता-जाता हो, उससे कोई पूछे कि पड़ोसी गांव जाने का रास्ता कौन सा है, तो उत्तर देने में उससे देर हो सकती है या भूल हो सकती है, परंतु मुझसे कोई ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग पूछे तो उसे बताने में न मुझसे देर हो सकती है, न भूल।

ब्रह्मानञ्चाहं वासेट्ठ, पजानामि ब्रह्मलोकञ्च, ब्रह्मलोकगामिनिञ्च पटिपदं।

– हे वासिष्ठ, मैं ब्रह्मा को जानता हूं, ब्रह्मलोक को जानता हूं और ब्रह्मलोक जाने का मार्ग जानता हूं।

यथा पटिपन्नो च ब्रह्मलोकं उपपन्नो, तञ्च पजानामि।

(दी० नि० १.५५४, तेविज्जसुत्त)

– जिस पर आरूढ़ होकर कोई व्यक्ति ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है, उस मार्ग को भी जानता हूं।

यह सुन कर वासिष्ठ माणवक बहुत प्रभावित हुआ और उसने कहा कि आप हमें ब्रह्मा की सलोकता (सान्निध्य) का मार्ग बतायें, ब्रह्मा तक पहुँच सकने का मार्ग बतायें?

उल्लुम्पतु भवं गोतमो ब्राह्मणिं पजं। (दी० नि० १.५५५, तेविज्जसुत्त)

– हे गौतम, आप हम ब्राह्मणिक प्रजा का उद्धार करें।

तब भगवान ने इसे सविस्तार समझाया। एक व्यक्ति तथागत की शरण आता है, शील-संपन्न होकर पांचों नीवरण दूर करता है। इससे उसका चित्त प्रमुदित होता है, प्रीति से भरता है। उसका शरीर स्थिर होता है, शांत होता है। वह सुख अनुभव करता हुआ चित्त को एकाग्र कर लेता है। ऐसा व्यक्ति द्रोहरहित चित्त से मैत्री भावना का अभ्यास करता है, मैत्री को विपुल बनाता है, अपरिमित बनाता है और उसी मैत्री चित्त से सारे लोकों

को स्पर्श करता है। यह ब्रह्माओं की सलोकता का मार्ग है। ब्रह्मलोक तक पहुँचाने वाला मार्ग है।

वह व्यक्ति इसी प्रकार अपरिमित करुणा का, अपरिमित मुदिता का, अपरिमित उपेक्षा का अभ्यास करता है। इस प्रकार चारों ब्रह्म-विहारों का अभ्यास परिपूर्ण करता है। यह ब्रह्माओं की सलोकता का मार्ग है। ब्रह्मलोक तक पहुँचाने वाला मार्ग है।

ऐसे व्यक्ति का चित्त वैर, द्वेष और क्लेश से मुक्त होता है। ब्रह्मा का चित्त भी वैर, द्वेष और क्लेश से मुक्त है। ऐसा व्यक्ति वशवर्ती (शक्तिशाली) होता है, ब्रह्मा भी वशवर्ती है। ऐसा व्यक्ति अपरिग्रही होता है, ब्रह्मा भी अपरिग्रही है। ऐसे व्यक्ति की ब्रह्मा से समानता होती है, मेल होता है।

सो ते अपरिग्गहो भिक्खु – ऐसा अपरिग्रही भिक्षु,

कायस्स भेदा परं मरणा – काया छोड़ कर मरने पर,

अपरिग्गहस्स ब्रह्मुनो सहव्यूपगो भविस्सति।

– अपरिग्रही ब्रह्मा की सलोकता को, सान्निध्य को प्राप्त होगा,

ठानमेतं विज्जति – इसकी संभावना है। (दी० नि० १.५५७, तेविज्जसुत्त)

जातीयता का मिथ्या अभिमान

भगवान के इन्हीं उपदेशों की गूंज हमें परवर्ती संतों की धर्मवाणी में सुनायी देती है, जब संत नानकदेव कहते हैं–

जाति का गरव न करीअहु कोई।
ब्रह्म विन्दे (जाने) सो ब्राह्मण होई॥

परंतु जिन्हें अपनी जाति और वर्ण की उच्चता का मिथ्या अभिमान हो, वे ब्रह्मविहार का अभ्यास क्यों करेंगे? अभ्यास नहीं करेंगे तो ब्रह्मा की सलोकता कैसे प्राप्त करेंगे? जो अभ्यास करेगा वह प्राप्त कर ही लेगा, भले वह किसी जाति का हो। उनके पास नये-नये प्रव्रजित हुए वासिष्ठ और भारद्वाज ब्राह्मणों को भगवान ने यही समझाया–

चारों वर्णों में कोई दु:शील, दुष्कर्मी होते हैं, कोई सुशील, सत्कर्मी। चारों वर्णों में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का व्यक्ति यदि दुष्कर्मी है तो निंदनीय है, यदि सत्कर्मी है तो प्रशंसनीय है।

इमेसं हि, वासेट्ठ, चतुन्नं वण्णानं यो होति भिक्खु अरहं खीणासवो...

– वासिष्ठ, इन्हीं चार वर्णों में से कोई व्यक्ति घर-बार छोड़, भिक्षु होकर अरहंत क्षीणास्रव होता है...

सो नेसं अग्गमक्खायति – वह उन सब में अग्र कहलाता है।

धम्मेनेव, नो अधम्मेन – धर्म से ही, अधर्म से नहीं।

धम्मो हि, वासेट्ठ, सेट्ठो जनेतस्मिं, दिट्ठे चेव धम्मे अभिसम्परायञ्च।

(दी० नि० ३.११६, अग्गञ्ञसुत्त)

– लोगों में धर्म ही श्रेष्ठ है, इस लोक में भी और परलोक में भी।

जाति के मद में अंधे हुए लोग इस सच्चाई को नहीं समझ पाते थे, तो अपनी ही हानि करते थे। भगवान विद्यासंपन्न थे यानी प्रज्ञासंपन्न थे। अत: इस सच्चाई को खूब समझते थे। भगवान चरणसंपन्न थे यानी करुणासंपन्न थे। अत: करुण भाव से उनका उद्धार किया चाहते थे। जो जो समझदार थे, वे इस बात को बड़ी जल्दी समझ जाते थे कि–

कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥

(म० नि० ३.३८७, अनाथपिण्डिकोवादसुत्त)

– कर्म, विद्या, धर्म और शीलसंपन्न उत्तम जीवन – इनसे मरणशील मनुष्य शुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, न कि गोत्र से या धन से।

परंतु अनेक लोग ऐसे भी थे, जो इस सच्चाई को जरा भी महत्त्व नहीं देते थे। वे अपनी परंपरागत मान्यताओं से बुरी तरह आवद्ध थे, जकड़े हुए थे। उनका कथन था–

यदिदं भो, गोतम, ब्राह्मणानं पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय, तत्थ च ब्राह्मणा एकंसेन निट्ठं गच्छन्ति–

– हे गौतम, ब्राह्मणों का यह जो पुराना मंत्रपद है, उस परंपरा के धर्मग्रंथ संपदा में ब्राह्मणों की एकनिष्ठ मान्यता है और वह यह कि–

इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं – यही सच है और सब झूठ।

(म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त)

प्रत्यक्ष की अनुभूति उनमें से किसी एक को भी नहीं थी। परंतु अपने परंपरागत ग्रंथों के प्रति ऐसा अंध-विश्वास था कि कोई बात कितनी भी न्यायसंगत क्यों न हो, वे उसे स्वीकारने को बिल्कुल तैयार नहीं थे। हमारी परंपरागत मान्यता ही सत्य है और सब मिथ्या है, इस अंध-विश्वास में ही वे जकड़े रहते थे।

उनमें से जो भगवान के समीप आ गये और उनकी जीवनचर्या से परिचित हो गये, वे तो यह कह ही उठते थे–

सुतं मेतं, भन्ते, ब्रह्मा मेत्ताविहारी – भंते, मैंने सुना है कि ब्रह्मा मैत्रीविहारी होते हैं।

तं मे इदं, भन्ते, भगवा सक्खिदिट्ठो – भंते, सो मैंने भगवान को साक्षात देख लिया।

भगवा हि, भन्ते, मेत्ताविहारी – भंते, भगवान ही मैत्रीविहारी हैं।

(म० नि० २.५३, जीवकसुत्त)

ब्राह्मणिक परंपरा सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग – पांच धर्म मानती थी। भगवान भी इन्हें अच्छा बताते थे, परंतु वे केवल मानने तक ही सीमित न रह कर, उनके धारण करने पर बल देते थे और धारण करना सिखाते थे।

चित्तस्साहं एते परिक्खारे वदामि – यदिदं चित्तं अवेरं अब्याबज्झं, तस्स भावनाय।

(म० नि० २.४६९, सुभसुत्त)

– मैं इन पांचों की साधना को वैररहित तथा दोषरहित चित्त बनाने वाला परिष्कार कहता हूं।

लेकिन इन पांच धर्मों का पालन तो करे नहीं, केवल पाठ ही करे तो क्या लाभ होगा? इनका पालन करने से ही चित्त वैररहित, द्वेषरहित बनता है और मैत्री भावना का अभ्यास करके ही कोई व्यक्ति सही माने में ब्राह्मण बनता है, ब्रह्मलोकगामी बनता है। अन्यथा थोथे कर्मकांडों में, थोथी मान्यताओं में ही उलझा रह कर अपनी भी हानि करता है तथा औरों की भी हानि करता है।

ब्राह्मण धनंजानि

हमने देखा राजगृह के तण्डुलपाल द्वार में रहने वाला गृही ब्राह्मण धनंजानि पहली धर्मपरायणा पत्नी के देहांत होने पर दूसरी अधार्मिक पत्नी के दुष्प्रभाव के कारण शुद्ध सनातन आर्य-धर्म का मार्ग छोड़ कर गलत रास्ते पड़ गया। वह राजा और ब्राह्मण गृहपतियों दोनों को ठगने का काम करने लगा। हम नहीं कह सकते, वह किस प्रकार दोनों को ठगता था। परंतु उसके गुरु भदंत सारिपुत्त ने उसे समझाया–

अत्थि खो, धनञ्जानि, अञ्ञेसं हेतुका धम्मिका कम्मन्ता, येहि सक्का मातापितरो चेव पोसेतुं, न च पापकम्मं कातुं, पुञ्ञञ्च पटिपदं पटिपज्जितुं।

(म० नि० २.४४८, धनञ्जानिसुत्त)

– हे धनंजानि, अन्य लाभदायक धार्मिक कर्मांत यानी पेशे होते हैं, जिनसे माता-पिता का (परिवार का) पोषण किया जा सकता है। परंतु पाप-कर्म नहीं करने चाहिये, पुण्य-मार्ग पर ही प्रतिपन्न होना चाहिये।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि धर्म के नाम पर उसने ऐसा पेशा अपनाया होगा जो पाप की ओर ले जाने वाला था, पुण्यमय नहीं था।

मिथ्या मान्यताओं और थोथे कर्मकांडों का मार्ग सरल था। आम जनता इसमें उलझी हुई थी। अतः इनके जरिये गलत पेशा अख्तियार कर लोगों को ठगा जा सकता था। परंतु ठगने वाला यह नहीं जान पाता था कि दूसरों को ठगते हुए वह स्वयं अपने आपको भी ठग रहा है। औरों की हानि करते हुए वह अपनी भी हानि ही कर रहा है। सर्वथा हानिप्रद गलत

आजीविका अपना कर धनंजानि धर्मच्युत हुआ। यदि सारिपुत्त उसे नहीं बचाते, तो वह अपना इहलोक ही नहीं बिगाड़ता, परलोक भी बिगाड़ता। भगवान ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा–

धम्मेन न वणिं चरे। (उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

– धर्म के नाम पर वाणिज्य-व्यापार न करने लगे, यानी धर्म को रोजी-पेशा न बना ले, धर्म को आजीविका का माध्यम न बना ले।

हमने पहले देखा है कि भगवान स्वयं किसी को पद्यमयी गाथा गा-सुना कर बदले में उसका भोजन तक स्वीकार नहीं करते थे – **गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं।** (सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

वे औरों को भी यही उपदेश देते थे – **धम्मेन न वणिं चरे।**

(उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

परंतु धर्म जिनके लिए व्यवसाय हो गया था, वे लोगों को कर्मकांडों में ही उलझाए रखना चाहते थे।

कर्मकांड

आज की भांति उन दिनों भी अनेक कर्मकांड प्रचलित थे। लोग उन कर्मकांडों से शुद्ध, मुक्त हो जाने की मिथ्या मान्यता मानते थे। पुरोहितवर्ग इन मिथ्या मान्यताओं के भँवर में स्वयं भी डूबा हुआ था, अनेक गृहस्थों को भी डुबो रहा था। उन दिनों जो अनेक कर्मकांड प्रचलित थे, उनमें से एक था नदी-स्नान।

गया काश्यप

इस संबंध में उरुवेल काश्यप के भाई गया काश्यप के उद्गार ध्यान देने योग्य हैं। उसने मुक्ति के हर्ष में कहा–

पहले मैं प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीन बार गया की फल्गु नदी में उतरता था। पहले मेरी यह मान्यता थी कि पूर्व जन्मों में मैंने जो पाप किये

थे, उन्हें अब नदी स्नान द्वारा बहा रहा हूं, परंतु भगवान के संपर्क में आकर धर्म-गंगा में डुबकी लगी तो –

निन्हातसब्बपापोम्हि, निम्मलो पयतो सुचि।
सुद्धो सुद्धस्स दायादो, पुत्तो बुद्धस्स ओरसो।

(थेरगा० ३४८, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– मैंने (वस्तुतः) सब पाप धो डाले। मैं निर्मल हूं, पवित्र हूं, शुद्ध हूं। शुद्ध हुए बुद्ध का शुद्ध उत्तराधिकारी हूं, बुद्ध का औरस-पुत्र हूं।

ओगय्हट्ठङ्गिकं सोतं, सब्बपापं पवाहयिं।

– अष्टांगिक मार्ग रूपी स्रोत में डुबकी लगा कर मैंने सारे पाप प्रवाहित कर दिये हैं।

तिस्सो विज्जा अज्झगमिं, कतं बुद्धस्स सासनं।

(थेरगा० ३४९, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– मैंने तीनों विद्याएं प्राप्त कर ली हैं, मैंने बुद्ध की शिक्षा पूरी कर ली है।

फल्गु नदी में नहाने से क्या मिलता भला? परंतु अनेक लोग इसी अंध-मान्यता में उलझे हुए थे।

सुंदरिक भारद्वाज

एक बार भगवान ने अपना प्रवचन समाप्त करते हुए कहा कि जो व्यक्ति साधना द्वारा सारा मैल धोकर अनास्रव, अर्हत हो जाता है वह –

भिक्खु, सिनातो अन्तरेन सिनानेन। (म० नि० १.७८, वत्थसुत्त)

– भिक्षु अंतःस्नान द्वारा स्नात यानी नहाया हुआ हो जाता है।

पास बैठे सुंदरिक भारद्वाज ने भगवान का पूरा उपदेश तो सुना नहीं, केवल अंतिम बोल उसके कान में पड़े। इसे भी वह ठीक से न समझ पाया। स्नान शब्द की भनक कान में पड़ी तो वह अपनी अंध-मान्यता की धुन में झट बोल उठा –

गच्छति पन भवं गोतमो बाहुकं नदिं सिनायितुं?

– क्या आप गौतम स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे?

भगवान ने पूछ लिया – हे ब्राह्मण, यह बाहुका नदी क्या है? क्या करेगी बाहुका नदी भला?

– हे गौतम, बाहुका नदी लोकमान्य है। वह बहुतों द्वारा पवित्र मानी जाती है और कहा –

बाहुकाय पन नदिया बहुजनो पापकम्मं कतं पवाहेतीति।

– बहुत से लोग अपने किये पापों को बाहुका नदी में बहाते हैं।

तब भगवान ने सुंदरिक भारद्वाज को समझाया –

बाहुका, अधिकक्का, गया और सुंदरिका में, सरस्वती, प्रयाग अथवा बाहुमती में कलुषित कर्मों वाला मूढ़ व्यक्ति चाहे रोज नहाये, पर वह शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुंदरिका, क्या करेगा प्रयाग और क्या करेगी बाहुका नदी? वह किसी कलुषित चित्त वाले पापकर्मी व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकती।

सुद्धस्स वे सदा फग्गु, सुद्धस्सुपोसथो सदा।
सुद्धस्स सुचिकम्मस्स, सदा सम्पज्जते वतं।

– जो शुचिकर्मी, शुद्धचित्त व्यक्ति है, उसके लिए तो सदा सर्वत्र ही फल्गु है, सदा ही उपोसथ है, उसके व्रत तो सदा ही पूरे होते रहते हैं।

इधेव सिनाहि ब्राह्मण – हे ब्राह्मण, तू यहीं (इस धर्म-गंगा में) स्नान कर।

यह धर्म-गंगा क्या है?

सब्बभूतेहि करोहि खेमतं – सारे प्राणियों के प्रति कुशल-क्षेम का भाव रख।

सचे मुसा न भणसि, सचे पाणं न हिंससि।
सचे अदिन्नं नादियसि, सद्दहानो अमच्छरी॥

– यदि तुम असत्य भाषण नहीं करते हो, प्राणी हिंसा नहीं करते हो, चोरी नहीं करते हो, यदि तुम सद्धर्म के प्रति श्रद्धालु हो तथा तुममें मात्सर्य नहीं है,

किं काहसि गयं गन्त्वा, उदपानोपि ते गया। (म० नि० १.७९, वत्थसुत्त)

– तो तुम गया जाकर क्या करोगे? तुम्हारे लिए तो छोटा सा तालाब ही गया है।

लगता है यही धर्म-वाणी आज की हिंदी तक छनती हुई चली आयी और यह मुहावरा लोक प्रसिद्ध हो गया – "जब मन चंगा, तो कठौती में गंगा"।

एक बार भगवान गया गये हुए थे। वहां देखा बहुत से जटाधारी संन्यासी कड़ाके की सर्दी में नदी में डुबकियां लगा रहे हैं। यह देख कर भगवान ने कहा –

न उदकेन सुची होति, बह्वेत्थ न्हायती जनो। (उदा० ९, जटिलसुत्त)

– यहां अनेक लोग नहाते हैं, परंतु इससे चित्त शुद्धि नहीं होती।

आगे चल कर इसी सच्चाई की अभिव्यंजना करते हुए नानकदेव जैसे महान संत ने कहा –

"सुचै सुच न होवई जो सुचै लख बार॥"

– शरीर को लाख बार धोकर स्वच्छ कर लेने पर भी मन स्वच्छ नहीं होता।

और कहा –

सोच करे दिवस अरु राति। मन को मैल न तन ते जाति।

– रात और दिन नहाता रहता है। लेकिन तन धोने से मन का मैल दूर नहीं होता।

लोक कल्याण के लिए भगवान को धर्म का सत्य स्वरूप, शुद्ध स्वरूप स्थापित करना था। लोक मंगल ही अभीष्ट था उन महाकारुणिक को। धर्म के नाम पर भटके हुए लोगों को सही दिशा-निर्देश करना था। चित्त की

शुद्धि तो सभी का लक्ष्य था, परंतु लोग उसे किसी नदी के जल में खोजते थे। यही भटकन थी। इसी से लोगों को दूर करना था।

तपो च ब्रह्मचरियञ्च, तं सिनानमनोदकं। (सं० नि० १.१.५८, उप्पथसुत्त)

– चित्त शुद्धि के लिए तप और ब्रह्मचर्य का स्नान करना होगा न कि जल का।

और कहा –

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो।

(ध० प० ३९३, ब्राह्मणवग्गो)

– जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही सही माने में ब्राह्मण है।

सचमुच –

बाहितपापोति ब्राह्मणो। (ध० प० ३८८, ब्राह्मणवग्गो)

– जिसने अपने पाप बहा दिये हैं, वही सही माने में ब्राह्मण है।

परंतु पाप पानी में नहीं बहाये जा सकते। पाप-शुद्धि पानी से नहीं हो सकती।

कायसुचिं वचीसुचिं, चेतोसुचिं अनासवं।
सुचिं सोचेय्यसम्पन्नं, आहु निन्हातपापकं।

(अ० नि० १.३.१२२, दुतियसोचेय्यसुत्त)

वस्तुतः शुद्ध व्यक्ति तो वही है, जिसने अपने कायिक कर्मों को शुद्ध कर लिया, वाचिक कर्मों को शुद्ध कर लिया, चैतसिक (मानसिक) कर्मों को शुद्ध कर लिया, जो अनास्रव हो गया, जो पापों को धोकर शुचि-संपन्न हो गया।

क्या यह शुचि-संपन्नता किसी नदी-नहान से प्राप्त हो सकती है भला?

इसके लिए तो –

धम्मो रहदो ब्राह्मण सीलतित्थो, अनाविलो सब्भि सतं पसत्थो।
यत्थ हवे वेदगुनो सिनाता, अनल्लगत्ताव तरन्ति पारं।

(सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

– हे ब्राह्मण, धर्म सरोवर है, निर्मल शील जिसके घाट हैं, जो संतों द्वारा प्रशंसित है। ज्ञानीजन इसमें स्नान करते हैं और बिना भीगे पार उतर जाते हैं।

ऐसे धर्म-सरोवर में स्नान करके ही कोई व्यक्ति शुचि-संपन्न होता है और सही ब्राह्मण बनता है।

नदी-स्नान से इस स्नान की क्या तुलना हो सकती है। प्रकृति के जो बँधे-बँधाये नियम हैं जिनके अनुसार –

अत्तना हि कतं पापं, अत्तना सङ्किलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तनाव विसुज्झति।

– अपने द्वारा किया गया पाप अपने आपको मैला करता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने आपको शुद्ध करता है।

सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये। (ध० प० १६५, अत्तवग्ग)

– शुद्धि और अशुद्धि अपने ही किये होती है। कोई दूसरा किसी दूसरे को विशुद्ध नहीं कर सकता।

न सुद्धि रोचनेनत्थि। (जा० १.१४.६९, उद्दालकजातक)

– किसी के द्वारा जल छिड़क दिये जाने पर कोई शुद्ध नहीं हो जाता।

किसी नदी में नहाने से अथवा किसी नदी का जल छिड़कवाने से कोई व्यक्ति अपने कर्मों के दुष्फल भोगने से बच नहीं सकता।

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥

(ध० प० १२७, पापवग्ग)

– न अंतरिक्ष में, न समुद्र के बीच, न पर्वत की गुफा में प्रवेश कर और न ही संसार में (अन्य) कोई ऐसा स्थान है, जहां स्थित होकर कोई अपने पापकर्मों के (दुष्फल से) बच सके।

पूर्णा थेरी

बुद्ध-पुत्री पूर्णा थेरी ने इसी को इन शब्दों में व्यक्त किया –

सचे भायसि दुक्खस्स, सचे ते दुक्खमप्पियं।
माकासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो॥
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा।
न ते दुक्खा पमुत्यत्थि, उपेच्चापि पलायतो॥

(थेरीगा० २४६-२४८, पुण्णाथेरीगाथा)

– यदि तुझे दुःख से भय है, यदि तुझे दुःख प्रिय नहीं लगता, तो प्रकट या छिपे रूप से कोई पाप कर्म मत कर। अब या भविष्य में यदि तू पाप कर्म करेगा, तो दुःख से तेरी मुक्ति संभव नहीं। चाहे कहीं जा, चाहे कहीं भाग, पर तुझे दुःख से छुटकारा नहीं मिलेगा।

सचमुच यदि कोई व्यक्ति दुष्कर्म कर ले, तो दुःख उसका पीछा नहीं छोड़ता।

मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कंव वहतो पदं॥

(ध० प० १, यमकवग्ग)

– प्रदुष्ट चित्त से यदि वाणी का या शरीर का कर्म कर लेता है तो उसके पीछे दुःख ऐसे ही लग जाता है जैसे कि गाड़ी से जुते बैल के पीछे गाड़ी का चक्का लग जाता है।

भगवान के ये बोल उस बुद्ध-धीता को खूब याद थे, तभी उसने कहा, पाप कर्म करके चाहे जहां भागे, दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकेगा।

पूर्णा प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक की क्रीत दासी थी। घर के लिए पानी भरने का काम करती थी। कड़ाके की सर्दी में सुबह-सुबह पानी भरने के लिए उसे नदी में उतरना पड़ता था। एक दिन उसने देखा एक ब्राह्मण उस सर्दी में नदी में उतर कर ठंडे पानी में डुबकियां लगा रहा है। पूछने पर उसने उत्तर दिया –

दकाभिसेचना सोपि, पापकम्मा पमुच्चति।

– जल के अभिषेक से मुझे पाप कर्मों से मुक्ति मिलेगी।

इस पर पूर्णा दासी ने ब्राह्मण को फटकारते हुए कहा –

को नु ते इदमक्खासि, अजानन्तस्स अजानको।

– अरे, यह तुझे किसने कह दिया? यह तो किसी अज्ञानी द्वारा किसी अज्ञानी को दिया गया उपदेश है।

दकाभिसेचना नाम, पापकम्मा पमुच्चति।

– यदि पानी के नहान द्वारा पाप कर्मों से विमुक्ति हो जाती तो –

सग्गं नून गमिस्सन्ति, सब्बे मण्डूककच्छपा।
नागा च सुसुमारा च, ये चञ्ञे उदके चरा॥

(थेरीगा० २३९-२४१, पुण्णाथेरीगाथा)

– ये सारे मेंढ़क और कछुए, पानी के सांप और मगरमच्छ तथा अन्य सभी जलचर निश्चित रूप से स्वर्गगामी हो जाते।

मानो परवर्ती नाथों, सिद्धों और संतों को विपश्यिनी पूर्णा द्वारा स्वस्थ चिंतनधारा प्रदान की गयी।

उसने आगे कहा – यदि जल स्नान से पापमुक्ति होती तो फिर भेड़-बकरी, सूअर और मुर्गे को मार कर उनका मांस बेचने वाले कसाई तथा मछुए, जल्लाद, चोर, डाकू और अन्य पापी लोग पाप कर्म करके नदी में स्नान करके क्या पापमुक्त हो जाते हैं?

यह सुन कर ब्राह्मण को होश आया और वह मिथ्या मार्ग छोड़ कर सन्मार्ग पर लग गया।

भगवान की शिक्षा के संपर्क में जो आया उसने यह भली-भांति समझ लिया कि अपने पाप कर्मों को धो डालने के लिए केवल एक ही रास्ता है और वह यह है कि काया, वाणी और चित्त से मौन रह कर भीतर धर्म की गंगा में डुबकी लगाए।

कायमुनिं वचीमुनिं, मनोमुनिमनासवं।
मुनिं मोनेय्यसम्पन्नं, आहु निन्हातपापकं॥

(इतिवु० ६७, मोनेय्यसुत्त)

– काया, वाणी और चित्त से मौन संपन्न, अनास्रव मुनि ही (धर्म गंगा में) नहा कर पाप को वहा देने वाला कहा जाता है।

यही अपने भीतर का सही धर्म स्नान है।

भगवान के जीवन काल की एक घटना –

नंदक लिच्छवी

उन दिनों भगवान वैशाली के महावन की कूटागारशाला में विहार कर रहे थे। लिच्छवियों का महामात्य नंदक भगवान से मिलने आया। नमन-अभिवादन कर वह एक ओर बैठ गया। भगवान ने मुक्तिप्रदायक धर्मपंथ की चर्चा की और कहा कि यह सब मैं किसी श्रमण या ब्राह्मण के मुँह से सुन कर नहीं कह रहा हूं, यानी यह कोई सुनी-सुनायी वात नहीं है। मैंने इसे स्वयं जाना है, देखा है और अनुभव किया है, तभी कह रहा हूं।

नंदक अत्यंत श्रद्धाभाव से दत्तचित्त होकर सुन रहा था। सुनते-सुनते अपने भीतर उदय-व्यय की सच्चाई का अनुभव करने लगा। इतने में उसका नौकर यह याद दिलाने आया कि स्नान का समय हो गया है। नंदक को यह विघ्न बड़ा अटपटा लगा। वह अपने नौकर को चुप कराते हुए बोला –

अलं दानि, भणे, एतेन बाहिरेन नहानेन – अरे भणे, बाहरी स्नान तो बहुत किया।

अलमिदं अज्झत्तं नहानं भविस्सति, यदिदं – भगवति पसादोति।

(सं० नि० ३.५.१०२६, नन्दकलिच्छविसुत्त)

– अब तो यह भीतरी स्नान ही पर्याप्त है जो कि भगवान के प्रति जागी हुई श्रद्धा में निहित है।

इस स्नान के लिए तो पानी की भी आवश्यकता नहीं होती।

भगवान ने ठीक ही कहा –

तपो च ब्रह्मचरियञ्च, तं सिनानमनोदकं। (सं० नि० १.१.५८, उप्पथसुत्त)

– तप और ब्रह्मचर्य का स्नान बिना पानी का स्नान है।

वस्तुतः बिना पानी का यह भीतरी स्नान ही कल्याणकारी है, पापविमोचक है, बाहरी नहीं। परंतु जब समाज में धर्म का शुद्ध स्वरूप लोप हो जाता है तब अंध-मान्यताएं ही लोगों को अपना गुलाम बना लेती हैं। इन मान्यताओं के आधार पर कुछ स्वार्थी लोग औरों को ठगते हैं। औरों को ठगने वाले अनेक नासमझ लोग अपने आप स्वयं द्वारा ठगे जाते हैं। धर्म के नाम पर घोर पाखंड, छल-छद्म, प्रवंचना, धोखाधड़ी, अंधविश्वास, थोथे कर्मकांड, निरर्थक बाह्याडंबर और देह-दंडन आदि चल पड़ते हैं। यही होने लगा था। उन्हें दूर करना ही भगवान को अभीष्ट था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए महाकारुणिक भगवान सतत लोक मंगल में लगे रहे।

पाखंडी ब्राह्मण

भगवान उन दिनों वैशाली की कूटागारशाला में विहार करते थे। उन्होंने देखा वैशाली का एक पाखंडी ब्राह्मण एक वृक्ष की डाल पर सिर नीचा करके लटका हुआ था। वह लोगों को धमकी देते हुए कह रहा था – मुझे गाय दो, स्वर्ण-मुद्राएं दो, सेविकाएं दो अन्यथा मैं यहीं से गिर कर आत्महत्या कर लूंगा और यदि ऐसा हुआ तो मेरे शाप से यह सारा नगर नष्ट हो जाएगा।

यह सुन कर लोग अत्यंत भयभीत हो उठे। लोगों को ठगने के लिए उसने जटा बांध रखी थी, मृग-चर्म पहन रखा था। वह रोज नदी में स्नान किया करता था। इसी से लोग उसे धार्मिक व्यक्ति समझते थे। लोगों को ठगने के लिए यह दिखावा पर्याप्त था। इसे देख कर भगवान ने कहा –

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि॥

(ध० प० ३९४, ब्राह्मणवग्ग)

– हे दुर्बुद्धि, इन जटाओं से तेरा क्या बनेगा और क्या बनेगा मृग-चर्म पहनने से? तेरा मन भीतर ही भीतर गहरे विकारों से भरा है और तू बाहर बाहर से अपने शरीर को धोता है।

गुण-दोष

गुण-दोष सब में होते हैं। दोष केवल ब्राह्मणों में ही नहीं थे। दोष सभी में समा गये थे। गुण भी केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, सभी में थे। जहां दोष थे, वहां उन्हें दूर करने के लिए भगवान उनका प्रकाशन करते थे। जहां गुण थे, वहां उन्हें बढ़ावा देने के लिए उनका प्रकाशन करते थे। इसी संदर्भ में भगवान ने कहा –

नाहं ब्राह्मण, उच्चाकुलीनता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उच्चाकुलीनता पापियंसोति वदामि।

– हे ब्राह्मण, न मैं उच्चकुलीनता को अच्छा बताता हूं न बुरा।

नाहं ब्राह्मण, उळारवण्णता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उळारवण्णता पापियंसोति वदामिग)

– हे ब्राह्मण, न मैं उच्च वर्ण को अच्छा बताता हूं न बुरा।

नाहं ब्राह्मण, उळारभोगता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उळारभोगता पापियंसोति वदामि।

(म० नि० २.४३७, एसुकारीसुत्त)

– हे ब्राह्मण, न मैं भोग-संपन्नता को अच्छा बताता हूं, न बुरा।

अच्छा या बुरा होना, श्रेष्ठ या हीन होना न किसी कुल पर निर्भर करता है, न वर्ण पर और न ही धनसंपन्नता पर।

जो शील-सदाचार का जीवन जीता है, वही श्रेष्ठ है। जो दुःशील-दुराचार का जीवन जीता है, वही हेय है। चाहे वह इस कुल का हो या उस कुल का। चाहे वह इस वर्ण का हो या उस वर्ण का। चाहे वह धनवान हो या धनहीन। लोगों में वस्तुतः धर्म ही श्रेष्ठ है –

धम्मोव सेट्ठो जनेतस्मिं।

(दी० नि० ३.११७, अग्गञ्ञसुत्त)

कोई व्यक्ति अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे; वह चाहे जिस कुल-गोत्र का हो, परंतु यदि वह शीलवान है, संयतचित्त है, स्थितप्रज्ञ है और मन के मैल से मुक्त है और यों अरहंत अवस्था प्राप्त कर आचरण ही

नहीं बल्कि तीनों विद्याओं से भी संपन्न हो गया है, तो वह पूज्य है, प्रशंसनीय है। तीनों विद्याओं से संपन्न हो गया अर्थात –

(१) उसमें पूर्व जन्मों का ज्ञान जग गया,

(२) उसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी, और

(३) वह आस्रव-क्षय की मुक्त अवस्था का स्वयं अनुभव कर चुका।

ये तीनों विद्याएं प्राप्त कर लेने पर ही कोई व्यक्ति त्रैविद्य बनता है। केवल पुस्तकों का पाठ करने मात्र से कोई त्रैविद्य नहीं हो जाता।

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि॥

(ध० प० ४२३, ब्राह्मणवग्ग)

– जो पूर्व जन्मों को जानता है, जो (दिव्य दृष्टि द्वारा) स्वर्ग-नरक को देख पाता है, जो अपने जन्म-क्षय को प्राप्त कर चुका है; वही अभिज्ञान-प्राप्त मुनि है, वही सिद्धि-प्राप्त सिद्ध पुरुष है।

एताहि तीहि विज्जाहि, तेविज्जो होति ब्राह्मणो।
तमहं वदामि तेविज्जं, नाञ्ञं लपितलापनं॥

(अ० नि० १.३.६०, जाणुस्सोणिसुत्त)

– इन तीन विद्याओं को जान लेने के कारण ही कोई त्रैविद्य ब्राह्मण होता है। मैं ऐसे को ही त्रैविद्य कहता हूं। आलाप-प्रलाप करने वाले किसी अन्य व्यक्ति को नहीं; केवल पाठ करने वाले को नहीं।

भगवान ने कहा कि जो विद्या और चरणसंपन्न है, वही श्रेष्ठ है। उसे ही सनत्कुमार ब्रह्मा ने भी श्रेष्ठ कहा है।

ब्रह्मुनापेसा, महानाम, सनङ्कुमारेन गाथा भासिता।

– हे महानाम, सनत्कुमार ब्रह्मा ने भी यही गाथा गायी है।

विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे। (म० नि० २.३०, सेखसुत्त)

– जो विद्याचरणसंपन्न है वही देव मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ है।

धर्म मार्ग पर चल कर इस अवस्था पर पहुँचे हुए अथवा पहुँचने के लिए प्रयत्नशील लोगों की बुद्ध सराहना करते थे, परंतु अधर्म के मार्ग पर चल कर

लोगों को ठगने वाले अथवा यों कहें कि अपने आपको ठगने वाले लोगों को सही राह पर लाने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। उन्हें उनका दोष दिखाते थे। ऐसे लोग चाहे ब्राह्मणों में से हों या श्रमणों में से हों या अन्य परिव्राजक अथवा आजीवकों में से हों अथवा स्वयं उनके यहां प्रव्रज्या लेकर भिक्षु का बाना पहनने वालों में से हों, गुणवंत के गुणों की प्रशंसा इसलिए करते थे ताकि उसे सन्मार्ग पर आरूढ़ रहने का प्रोत्साहन मिले तथा औरों को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा मिले। दोषपूर्ण व्यक्तियों का दोष इसलिए दर्शाते थे ताकि उनमें दोषों से उन्मुक्त होने की प्रेरणा जागे, औरों में भी दोषों से उन्मुक्त होने की प्रेरणा जागे। समाज का एक बहुत बड़ा तबका धर्म के नाम पर ढोंग, दिखावे, बाह्याडंबर और थोथे कर्मकांडों में डूबा हुआ था। उसे उबारना ही भगवान का सुष्ठु मंतव्य था।

उन दिनों मुक्ति की खोज में कुछ लोग नंगे रहते थे, कुछ शरीर पर धूल, राख, कीचड़ आदि मलते थे। कुछ लंबे उपवास करते थे, कुछ जटा बढ़ाते थे। कुछ कड़ी भूमि पर सोते थे और कुछ उकड़ूं बैठ कर कायकष्ट का उपक्रम करते थे। ऐसे लोगों को लक्ष्य करके ही भगवान ने कहा –

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥

(ध० प० १४१, दण्डवग्ग)

– जिस व्यक्ति के धर्म संबंधी सारे संदेह नहीं मिट पाये यानी जो अभी धर्म से दूर मिथ्या मान्यताओं में उलझा हुआ है, उसकी चित्त-शुद्धि न नग्न रहने से, न जटा बढ़ाने से, न कीचड़ लपेटने से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल मलने से और न उकड़ूं बैठ कर कायकष्ट का उपक्रम करने से ही हो सकती है।

आखिर मैल है क्या? शुद्धि किसकी है? शुद्धि किस प्रकार होती है? इसी की विशद अभिव्यंजना भरी पड़ी है सारी बुद्ध-वाणी में। जैसे कहा गया –

मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च। (ध० प० २४२, मलवग्ग)

– इस लोक में और परलोक में पापकर्म ही मैल हैं।

इसी मैल के कारण –

पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो – मंदबुद्धि व्यक्ति बार-बार गर्भ में पड़ता है।

(ध० प० ३२५, नागवग्ग)

चित्त के इस पापवर्द्धक स्वभाव को बदलने के लिए तथागत ने विपश्यना की वैज्ञानिक विधि खोज निकाली जिसका प्रयोग करके –

अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥

(ध० प० २३९, मलवग्ग)

– मेधावी व्यक्ति अपने मन के मैल को उसी प्रकार शनैः शनैः दूर करे, जैसे सुनार चांदी के मैल को क्षण-क्षण, थोड़ा-थोड़ा, क्रमशः दूर करता है।

मन के राग और द्वेष आदि मैल किसी नदी या सरोवर के जल से भला कैसे दूर हो सकते हैं? किन्हीं बाह्य आडंबरों या थोथे कर्मकांडों से कैसे दूर हो सकते हैं? इसी को लक्ष्य कर भगवान ने कहा –

भिक्षुओ, मैं चीवर धारण करने वाले के चीवर धारण कर लेने मात्र को श्रामण्य नहीं कहता। इसी प्रकार नग्न रहने वाले के नग्न रहने मात्र को, शरीर पर कीचड़ लपेटने वाले के कीचड़ लपेट लेने मात्र को, जल में निवास करने वाले के जल में निवास करने मात्र को, सदा वृक्ष के नीचे रहने वाले के सदा वृक्ष के नीचे रहने मात्र को, खुले आकाश के तले रहने वाले के खुले आकाश के तले रहने मात्र को, सदा खड़े रहने वाले के सदा खड़े रहने मात्र को, बीच-बीच में निराहार रहने वाले के बीच-बीच में निराहार रहने मात्र को, मंत्रपाठी के मंत्रपाठ करने मात्र को, जटाधारी के जटा धारण करने मात्र को मैं श्रामण्य नहीं कहता। (म० नि० १.४३५, चूळअस्सपुरसुत्त)

यदि इन बाह्याडंबरों और कर्मकांडों के करने से लोभ, द्वेष, क्रोध, वैर, अमर्ष, निष्ठुरता, ईर्ष्या, मात्सर्य, शठता, माया, पापेच्छा और मिथ्या-दृष्टि दूर हो जाती, तो इन विकारों से छुटकारा पाना सरल हो जाता। फिर तो बचपन में ही घरवाले किसी को वैसी-वैसी वेश-भूषा पहना देते, उससे वैसा

वैसा कर्मकांड करवा लेते और वह तभी सरलता से मैल-मुक्त हो जाता, परंतु ऐसा होता कहां है? ये सारे आडंबर, ये सारे कर्मकांड धोखा देने वाले हैं। जो विद्याचरणसंपन्न बुद्ध होंगे, वे लोगों को इन जंजालों से बाहर निकालेंगे। भगवान ने यही किया।

जैसे किसी नदी में स्नान कर लेने से मन के मैल धुल जाने की मान्यता बेतुकी है, वैसे ही सिर पर राख मल लेने से और जटा बांध लेने से मानस के निर्मल हो जाने की मान्यता भी बेमानी है। ऐसे लोग जो जटा बांध लेने का ढोंग तो करते हैं, परंतु जिनके मानस में विकारों की जटाएं बँधी रहती हैं, गांठें बँधी रहती हैं, उलझनें समायी रहती हैं, उनकी इस दयनीय अवस्था को देख कर भगवान से जब पूछा गया –

अन्तोजटा बहिजटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजटये जटन्ति॥

– भीतर भी जटा, बाहर भी जटा। लोग इन जटाओं में किस प्रकार उलझे हैं। हे गौतम, इन जटाओं से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

तब इन जटाओं की जटिलता से छुटकारा पाने के लिए भगवान ने मार्ग दिखाते हुए कहा –

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं॥

– कोई समझदार व्यक्ति शील में प्रतिष्ठित होकर समाधि और प्रज्ञा की साधना- भावना करता है। वह पका हुआ तपस्वी भिक्षु इस जटा की उलझनों को सुलझा लेता है।

मात्र बाहरी दिखावों से कोई मुक्त नहीं हो सकता। उसे भीतर की सफाई करनी होती है। चित्त को विकारों से नितांत निर्मल करना होता है, तभी मुक्त अवस्था प्राप्त होती है।

येसं रागो च दोसो च, अविज्जा च विराजिता।
खीणासवा अरहन्तो, तेसं विजटिता जटा॥

(सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– जिनके राग, द्वेष और अविद्या रूपी मोह दूर हो चुके हैं, ऐसे आस्रवमुक्त अरहंतों की जटा सुलझ चुकी है।

शुद्धि भीतर की होती है, बाहर की नहीं। इसीलिए जिन दूषित चित्त वाले वर्णवादियों को अपने गौर वर्ण का अभिमान था, उनके लिए कहा गया –

न ब्राह्मणो बहिवण्णो, अन्तो वण्णो हि ब्राह्मणो।

– बाहर के वर्ण यानी गोरे रंग से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, भीतर के वर्ण से ही ब्राह्मण होता है।

यस्मिं पापानि कम्मानि, स वे कण्हो सुजम्पतीति॥

(थेरगा० १४०, वसभत्थेरगाथा)

– हे सुजंपति, जिसके कर्म पापमय हैं, वह (भीतर से) काला ही है। (बाहर से कितना ही गौरवर्ण क्यों न हो।)

जिसके कर्म काले हैं, उसका मन काला है। जिसका मन काला है उसको ऊपर का गौर वर्ण ब्राह्मण नहीं बना सकता। बाहर का रंग चाहे जैसा हो, परंतु यदि मन उजला है, तो कर्म उजले होंगे ही। कर्म उजले होंगे तो ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण ही कहलाने योग्य होगा। सही माने में ब्राह्मण होने के लिए विकार-विमुक्त होना अनिवार्य है।

यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध० प० ४०७, ब्राह्मणवग्ग)

– जिसके चित्त से राग, द्वेष, मान, म्रक्ष आरे के सिरे से सरसों के दाने की तरह गिर पड़े हैं, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

चन्दंव विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध० प० ४१३, ब्राह्मणवग्ग)

– जो चंद्रमा सदृश विमल, शुद्ध, स्वच्छ और निष्कलुष है, जिसकी सारी भव-तृष्णा नष्ट हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

इस प्रकार ब्राह्मण हुआ व्यक्ति स्वभावतः पूर्ण अहिंसक हो जाता है।

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध० प० ४०५, ब्राह्मणवग्ग)

– जो चर-अचर सभी प्राणियों पर प्रहार करने से विरत रहता है, जो न स्वयं हत्या करता है न औरों को हत्या करने की प्रेरणा देता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

ऐसा निर्मल-चित्त व्यक्ति न यज्ञ के लिए जीवों की हत्या करता-करवाता है; न सप्राण पेड़ों को काटता-कटवाता है। ऐसा विकार-विमुक्त व्यक्ति न औरों को बाहरी दिखावे द्वारा ठगता है, न अपने आप को, न स्वयं थोथे कर्मकांडों में उलझता है, न औरों को उलझाता है।

परंतु ऐसे भवतीर्ण व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। अधिकतर भटकने वाले ही होते हैं। तभी कहा गया –

अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति।

(ध० प० ८५, पण्डितवग्ग)

– मनुष्यों में पार जाने वाले तो थोड़े ही हैं। बाकी लोग तो इस तीर पर ही दौड़ लगाते रहते हैं।

परले तट पर जाने के लिए बीच की विकारों की नदी को पार करना होता है, जो शील, सदाचार का पालन करते हुए समाधि द्वारा चित्त को एकाग्र करके प्रज्ञा द्वारा चित्त का प्रक्षालन करने से ही संभव होता है। शील-समाधि-प्रज्ञा का अभ्यास छोड़ कर अन्य किन्हीं क्रियाओं में लगे रहना इस तीर पर ही दौड़ लगाते रहने जैसा है। ऐसे भ्रमित लोगों पर भगवान की करुणा उमड़ती थी और वे उन्हें सही दिशा-निर्देशन देते थे।

इस तीर पर दौड़ने वाले अनेक थे और वे भिन्न-भिन्न प्रकार की दौड़ लगाते थे। उनमें से एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

पूरण कोलियपुत्र और अचेल सेनिय

उन दिनों भगवान कोलियों के जनपद में विहार कर रहे थे। कोलियपुत्र पूरण और अचेल (निर्वस्त्र) सेनिय उनके दर्शनार्थ आये। पूरण कोलियपुत्र ने गौ-व्रत ले रखा था, यानी गाय-बैल का-सा जीवन जीने का व्रत ले रखा था। इसलिए वह दोनों हाथों और दोनों पांवों के बल पर चौपाये की तरह चलता था। इसी प्रकार अचेल सेनिय ने कुक्कुर-व्रत यानी कुत्ते का-सा जीवन जीने का व्रत ले रखा था। वह पूरण से दो कदम आगे बढ़ा हुआ था; कोई वस्त्र भी नहीं पहनता था। कुत्ते की तरह नग्न रहता था, इसलिए अचेल यानी निर्वस्त्र कहलाता था। जब भगवान से मिलने आया, तब भी उनके सामने कुत्ते की भांति गेंडुली मार कर एक ओर बैठ गया। कोलियपुत्र ने अपने साथी अचेल सेनिय की प्रशंसा करते हुए कहा – यह अनेक वर्षों से बहुत कड़े व्रत का पालन कर रहा है; भूमि पर पड़े भोजन को कुत्ते की भांति ग्रहण करता है। कोलियपुत्र ने भगवान से इस व्रत का फल जानना चाहा।

लगता है उन दिनों कुछ लोग यह मान्यता मानने वाले थे कि इसी जीवन में पशु जैसा जीवन जी लेने से भविष्य में उस योनि से मुक्ति मिल जाती है। भगवान ने करुण चित्त से दोनों को धर्म समझाया, प्रकृति के नियम समझाये।

भूता भूतस्स उपपत्ति होति – जो जैसा है, उसकी वैसी ही उत्पत्ति होती है। यानी –

यं करोति तेन उपपज्जति – जैसे कर्म करता है, वैसे ही उत्पन्न होता है।

कम्मदायादा सत्ता – प्राणी अपने ही कर्मों के वारिस हैं, उत्तराधिकारी हैं।

(म० नि० २.८१, कुक्कुरवतिकसुत्त)

दोनों को शुद्ध धर्म की वात समझ में आयी। इस जीवन में पशुओं का-सा जीवन जीते रहेंगे, तो चित्त की वैसी ही चेतना वनी रहेगी। परिणामतः मर कर वैसी ही योनि में जन्म मिलेगा। दोनों का होश जागा, उनका कल्याण जागा और वे सही मार्ग पर आरूढ़ होकर मंगललाभी हुए।

कठोर व्रत

उस समय देश में ऐसे अनेक लोग थे, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के देह-दंडन के कठोर व्रत पालते थे। उनमें से कई ऐसे भी थे, जो केवल लाभ और यश पाने के लोभ में ऐसा करते थे।

इस संबंध में वैशाली के एक अचेल का प्रसंग द्रष्टव्य है।

अचेल कोरमत्तक

अचेल कोरमत्तक ने जीवन भर नग्न रहने का व्रत ले रखा था। वह ब्रह्मचर्य का पालन करता था। उसने वैशाली के उदयन, गौतमक, सत्ताम्र और बहुपुत्र नामक चार चैत्यों की सीमाओं के बाहर न जाने का व्रत ले रखा था। परंतु साथ-साथ यह व्रत भी ले रखा था कि वह दाल-भात नहीं खायेगा; केवल मांस खायेगा और मदिरा पीयेगा। उसके कठोर व्रतों को देख कर अनेक लोग उसके प्रशंसक हो गये थे और इस कारण वह प्रचुर लाभ-सत्कार प्राप्त करता रहता था।

अनेक कठोरव्रती

ऐसे अनेक लोग थे जो लाभ-सत्कार पाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कठोर व्रत पालते थे – जैसे कि नंगा रहना, सभी आचार-विचारों को छोड़ देना, हथचट्टा होना, निमंत्रण द्वारा प्राप्त भिक्षा का त्याग करना, रोक कर दी गयी भिक्षा न लेना, अपने लिए पकायी गयी भिक्षा, लायी गयी भिक्षा, हांडी की भिक्षा, ऊखल के मुँह से निकाल कर दी गयी भिक्षा, पटरा, डंडा, मुँह से निकाली गयी या मूसल के वीच से लायी गयी भिक्षा, भोजन करने वाले दो जनों के वीच से लायी गयी भिक्षा ग्रहण न करना, गर्भिणी, दूध पिलाती या पराये पुरुष के पास गयी स्त्री से भिक्षा न लेना, चंदे से प्राप्त भिक्षा न लेना, आदि आदि। कोई कठोर व्रतधारी व्यक्ति एक ही घर से जो भिक्षा मिली, वही खाता था और एक कौर ही खाता था। कभी दो घरों से जो भिक्षा

मिली, वही खाता था और दो कौर खाता था। यों एक-एक घर से एक-एक कौर लेकर ही भोजन करता था। वह एक दिन बीच में छोड़ कर या दो दिन, चार दिन, पांच दिन, छः दिन, सात दिन बीच में छोड़ कर अथवा आधा महीना बीच में छोड़ कर आहार लेता था। वह सिर, दाढ़ी और मूंछ के बाल नोचता या नुचवाता था। सदा उकडूं बैठता था। कांटों पर, कड़े तख्ते पर या जमीन पर सोता, बैठता था। मैल खाता था। केवल खुली जगह में बिना छत के रहता था। केवल गर्म पानी पीता था। सुबह, दोपहर, शाम – तीन बार जल-शयन करता था। वह इस कठोर तपस्या के कारण अपने को महान समझता था, औरों को तुच्छ समझता था और अपना अहंकार जगाता था। इस कठोर तप के कारण लोगों से जो सत्कार, प्रशंसा पाता, उससे संतुष्ट रहता था। यदि लोग सत्कार, प्रशंसा नहीं करते तो कुपित होता था। औरों का सत्कार हुआ देख कर वह ईर्ष्या से जल-भुन उठता था, मात्सर्य से भर जाता था। आत्म-प्रदर्शन के लिए आवागमन-बहुल स्थान पर बैठता था। आत्म-प्रशंसा करता था। छिप कर दुष्कर्म करता था और पूछने पर झूठ बोलता था। ऐसा व्यक्ति कृतघ्न, ईर्ष्यालु, कृपण, शठ, मायावी, क्रूर, अभिमानी, पापेच्छ, हठीला और जिद्दी होता था। इस प्रकार कठोर तप करते हुए भी अपने मानस को क्लेश-कलुषित रखता था और परिणामतः मुक्ति से दूर रह जाता था।

(दी० नि० ३.५३-६३, उदुम्बरिकसुत्त)

आजीवक जंबुक

ऐसा एक उदाहरण हम आजीवक जंबुक का देखते हैं जो राजगृह नगर के बाहर एक चट्टान पर दिन के समय एक टांग पर खड़ा रहता था और मुँह खोले रखता था। उसने यह बात लोगों में फैला दी थी कि वह केवल हवा पीकर जीता है। जबकि वह रात में सूखी विष्ठा ढूंढ कर खाया करता था। लोगों में उसका यश बहुत फैल चुका था। अंग, मगध के लोग बड़ी संख्या में उसके दर्शनार्थ आते थे और नाना प्रकार की भोजन सामग्री भेंट में चढ़ाते थे, परंतु वह अपनी यश-प्रसिद्धि से ही खुश था। अतः उनकी भेंट

नहीं स्वीकारता था। अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए उनके द्वारा भेंट में चढ़ाया हुआ भोजन महीने में एक बार कुश की नोक से खाता था। इससे उसके त्याग और तपस्या की प्रसिद्धि और अधिक फैलती थी। वह इसी में संतुष्ट तथा प्रसन्न रहता था।

सौभाग्य से वह भगवान के संपर्क में आया, धर्म के संपर्क में आया। उसे अपनी भूल समझ में आयी। उसने भगवान से साधना की विधि सीख कर अपना कल्याण साधा। इसके पूर्व जिस गलत मार्ग पर चल रहा था उसका वर्णन उसने इन शब्दों में किया –

भुञ्जन्तो मासिकं भत्तं, केसमस्सुं अलोचयिं।

– महीने में एक बार भोजन करता था, सिर और चेहरे के बाल नोचता था।

एकपादेन अट्ठासिं, आसनं परिवज्जयिं।

– आसन त्याग कर एक पैर पर खड़ा रहता था।

सुक्खगूथानि च खादिं, उद्देसञ्च न सादियिं।

– सूखी विष्ठा खाता था। आमंत्रण द्वारा दिया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करता था।

ऐसे गलत रास्ते पर पड़ा हुआ जंबुक जब भगवान के संपर्क में आया और उनकी शरण ग्रहण की तो शील, समाधि, प्रज्ञा की साधना-भावना करता हुआ तीनों विद्याओं में परिपूर्ण हो मुक्त हुआ, अरहंत हुआ और हर्ष-भरे उद्गार में कह उठा –

सरणगमनं पस्स, पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

(थेरगा० २८३, २८४, २८६, जम्बुकत्थेरगाथा)

– देखो इस शरणगमन को, धर्म की इस महानता को, सुधर्मता को। मैंने बुद्ध शासन पूरा किया यानी उनकी पूरी शिक्षा ग्रहण की और तीनों विद्याएं प्राप्त कर मुक्त हुआ।

अब उसके पास लोग दर्शनार्थ आते तो उनसे वह यही कहता –

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खातधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥

(ध० प० ७०, बालवग्ग)

– कोई मूर्ख व्यक्ति यदि महीने-महीने पर कुश की नोक से भोजन करे, तो भी वह धर्म के जानकारों के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हो सकता।

कठोर देह-दंडन की साधना करने वाले सभी लोग ढोंगी और यश-सत्कार लोभी नहीं थे। उनमें से अनेकों के मन में यह गलत धारणा बैठ चुकी थी कि ऐसी कठोर तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है, चित्त शुद्ध होता है और परम विमुक्त अवस्था प्राप्त होती है। ऐसों के प्रति भगवान की विशेष कृपा होनी स्वाभाविक थी, क्योंकि वे स्वयं बुद्ध होने के पूर्व बोधिसत्त्व अवस्था में ऐसे कठोर देह-दंडन की साधना में से लगभग छः वर्षों तक गुजरे थे और उसे सर्वथा निरर्थक पाकर ही उसका त्याग किया था और मुक्ति का मध्यम मार्ग चुना था।

उन्होंने कई बार अपनी दुष्कर तपश्चर्या का वर्णन किया। कोशांबी के बोधि राजकुमार को आपबीती बताते हुए उन्होंने कहा –

"मेरे दांत पर दांत रखने, जिह्वा से तालु दबाने, मन से मन का निग्रह करने से कांख से पसीना छूटता था, जैसे कोई बलवान पुरुष किसी दुर्बल व्यक्ति को शीश और कंधे से पकड़ कर दबाये और संतापित करे...।

"मैंने मुख और नासिका से श्वास का आना-जाना रोक दिया, तब मुझे अत्यधिक शीश-वेदना होती थी, वायु पेट को छेदने लगती थी, काया में अत्यधिक दाह होता था।

"आहार की मात्रा कम कर देने पर मेरा शरीर दुर्बलता की चरम सीमा तक पहुँच गया था। उस अल्पाहार के कारण जैसे वनस्पति आसीतिक की गाँठें, वैसे मेरे अंग-प्रत्यंग हो गये...। जैसे ऊंट का पैर, वैसे मेरे कूल्हे हो गये। जैसे सूओं की पांति, वैसे मेरे पीठ के कांटे हो गये थे। जैसे पुराने मकान की लकड़ी की कड़ियां, वैसी टेढ़ी-मेढ़ी मेरी पसलियां हो गयी थीं। जैसे किसी गहरे कुएं में तारे की परछाईं बहुत गहराई में दीखती है, वैसे मेरी आंखों के गड्ढों में आंखों के तारे दीखते थे। जैसे कच्चा तोड़ा हुआ कड़वा लौकी धूप और हवा से पिचक जाता है, मुरझा जाता है, वैसे मेरे सिर की चमड़ी पिचक गयी थी, मुरझा गयी थी। यदि मैं पेट की चमड़ी को मसलता तो पीठ के कांटे पकड़ में आ जाते थे। यदि मैं पीठ के कांटों को मसलता तो पेट की चमड़ी पकड़ में आ जाती थी। जब मैं पेशाब, पाखाना करता तो अक्सर वहीं भरभरा कर गिर पड़ता था। जब मैं शरीर को हाथ से मसलता तो सड़ी जड़ वाले रोम झड़-झड़ पड़ते थे...। मेरे शरीर का गोरा रंग नष्ट हो गया था, काला पड़ गया था।"

इस प्रकार की दुष्कर तपश्चर्या करने पर भी विमुक्ति का कोई प्रकाश नहीं दीखा तो इसे त्याग कर मध्यम मार्ग अपनाया और लोगों को भी दो अतियों को त्याग कर आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलना सिखाया। उन्होंने कहा –

दोनों अंतों को छोड़ कर यह जो आठ अंग वाली मध्यमा आर्य प्रतिपदा है, यही अर्थ-संहिता है, यही आर्यों द्वारा सेवित है, यही निर्वाणोन्मुखी है।

सेय्यथापि, भिक्खवे या काचिमा महानदियो सेय्यथिदं; गङ्गा, यमुना, अचिरवती, सरभू, मही, सब्बा ता समुद्दनिन्ना समुद्दपोणा समुद्दपब्भारा,

– जैसे गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही आदि सभी महानदियां समुद्र की ओर झुकती हैं, ढलती हैं, प्रवहमान होती हैं,

एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं भावेन्तो, अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति, निब्बानपोणो, निब्बानपब्भारो।

(सं० नि० ३.५.१३४-१३८, दुतियादिसमुद्दनिन्नसुत्त)

भिक्षुओ, ऐसे ही आर्य अष्टांगिक मार्ग का सेवन करने वाला, आर्य अष्टांगिक मार्ग की साधना-भावना करने वाला भिक्षु निर्वाण की ओर झुकता है, अग्रसर होता है, आगे बढ़ता है।

भगवान ने स्वयं यही बीच का मार्ग अपना कर संबोधि प्राप्त की थी। अतः भूले-भटके गृहत्यागियों को यही सिखाया कि वे न तो कामभोगजनक शिथिलता में पड़ें और न ही देह-दंडन के निरर्थक व्रतों की उग्रता में। वीणा

के तार को इतना ढीला भी न हो जाने दें कि उससे झंकार ही न निकले और न ही इतना खींचें कि तार ही टूट जाय।

अच्चारद्धवीरियं उद्धच्चाय संवत्तति।

– अत्यंत प्रयत्नशील होना उद्धतपन का कारण बन जाता है।

अतिसिथिलवीरियं कोसज्जाय संवत्तति। (अ० नि० २.६.५५, सोणसुत्त)

– अत्यंत ढील छोड़ देना आलस्य का कारण बन जाता है।

अतः दोनों के बीच का मार्ग ही सही मार्ग है।

अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो तेसं अग्गमक्खायति।

(अ० नि० १.४.३४, अग्गप्पसादसुत्त)

– (इसीलिए) आर्य अष्टांगिक मार्ग अग्र कहलाता है,

क्योंकि वह निर्वाण की उच्चतम अवस्था तक ले जाने वाला है। तभी कहा गया है –

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो। (ध० प० २७३, मग्गवग्ग)

– मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। और कहा –

एसेव मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया। (ध० प० २७४, मग्गवग्ग)

– दर्शन की विशुद्धि के लिए यही एक मार्ग है, अन्य नहीं।

आर्य अष्टांगिक मार्ग अर्थात शील, समाधि और प्रज्ञा का मार्ग। शील, समाधि और प्रज्ञा की अवहेलना करके कोई कैसे मुक्त हो सकता है भला?

इसीलिए कहा गया –

भद्दको, आवुसो, मग्गो भद्दिका पटिपदा एतस्स निब्बानस्स सच्छिकिरियाय।

(सं० नि० २.४.३१४, निब्बानपञ्हासुत्त)

– हे आयुष्मान, निर्वाण के साक्षात्कार के लिए यह भद्र मार्ग है, भद्र प्रतिपदा है।

शील, समाधि, प्रज्ञा का यह अष्टांगिक मार्ग किसी एक जाति का, किसी एक वर्ग का, किसी एक वर्ण का, किसी एक संप्रदाय का नहीं है। यह सबका है। जो इस पर चले वही मुक्त अवस्था तक पहुँचे। अतः भगवान सभी मार्गभ्रष्ट लोगों के लिए मुक्ति का यह सहज, सरल मार्ग

प्रकाशित करते थे और उन्हें मिथ्या भटकन से दूर करते थे। ब्राह्मण वर्ग समाज का अगुआ था, पढ़ा-लिखा था, संपन्न था और जातिवाद तथा हिंसक यज्ञों में रत रह कर अपनी हानि कर रहा था। समाज की भी हानि कर रहा था। समाज के अगुआ होने के कारण बहुत से ब्राह्मण भगवान के संपर्क में आये। भगवान ने उन्हें बार-बार यही समझाया –

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

–न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, न जन्म से कोई अब्राह्मण।

कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो।

(सु० नि० ६५५, वासेट्ठसुत्त)

–कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण।

और इसी प्रकार कहा –

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

(सु० नि० १४२, वसलसुत्त)

– न जन्म से वृषल (चांडाल) होता है, न जन्म से ब्राह्मण। कर्म से वृषल (चांडाल) होता है, कर्म से ब्राह्मण।

इसी अभिप्राय से जातीय-मद में प्रमत्त हुए सुंदरिक भारद्वाज से भगवान ने कहा था –

मा जातिं पुच्छी, चरणञ्च पुच्छ। (सु० नि० ४६६, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– जाति मत पूछ, चरण यानी आचरण पूछ!

यों जाति के स्थान पर आचरण को महत्त्व देने वाली बुद्धवाणी ने भारतीय जन-जीवन में क्रांति का एक ऐसा शंख बजाया जिसकी गूंज-अनुगूंज चिरकाल तक कायम रही और संतों की वाणी में प्रस्फुटित होती रही। जैसे कि –

– "जात न पूछो संत की...।"

– "जात-पाँत पूछे ना कोय...।"

"बामण, छत्री वैस सूद, जात जनम ते नाहिं।" आदि आदि।

यद्यपि भारतीय समाज पर लगा जातिवाद का यह धब्बा दूर नहीं हो सका, तो भी इन महाकारुणिक के जाति-विरोधी अभियान ने अपना असर दिखाया ही। हर युग के, हर समाज के प्रबुद्ध लोगों ने जातिवाद और वर्णवाद की भरपूर भर्त्सना ही की। हो सकता है आज के प्रबुद्ध युग में इसका उन्मूलन हो जाय और भगवान बुद्ध का यह अभियान सफलीभूत हो जाय।

परंतु एक क्षेत्र में भगवान की कल्याणी वाणी ने पूर्ण सफलता प्राप्त की और वह था यज्ञों में पशुओं की हत्या। समय पा कर हिंसक यज्ञ देश से सर्वथा उठ गये। इस दिशा में उनकी वाणी का गहरा और फलदायी असर हुआ।

भगवान का ब्राह्मणों से वैर नहीं था, विरोध नहीं था। उनका विरोध था दोषों से। समाज में जहां-जहां दोष आ गये थे, वहां-वहां से उनके निष्कासन का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। चाहे दोष ब्राह्मणों में थे या श्रमणों में या आजीवकों में या परिव्राजकों में या गृहस्थों में। दोष प्रक्षालन करने वाली उनकी कल्याणी वाणी सबके लिए थी। ब्राह्मणों का ब्राह्मण्य पुनः जागे, श्रमणों का श्रामण्य पुनः जागे, लोगों में शुद्ध धर्म पुनः जागे – यही उन्हें इष्ट था, यही अभीष्ट था। इसी निमित्त वे सब को सत्य का दर्शन करवाते थे। उन्हें मिथ्या मान्यताओं से दूर हटाते थे।

वे श्रमण 'श्रमण' नहीं, वे ब्राह्मण 'ब्राह्मण' नहीं, जो स्वयं सत्य का साक्षात्कार कर, मुक्त हो क्रमशः श्रामण्यफल और ब्राह्मण्यफल न प्राप्त कर लें।

(इतिवु० १०३, समणब्राह्मणसुत्त)

यम्हि न माया वसती न मानो, यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खूति॥

(उदा० २६, पिलिन्दवच्छसुत्त)

– जिसमें न माया है, न अभिमान है, जो निर्लोभ है, आसक्ति और तृष्णा से रहित है, जो क्रोध-मुक्त है, जो निर्वाण प्राप्त है वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

लोक-कल्याण के लिए उन्हें ऐसे ब्राह्मण, ऐसे श्रमण, ऐसे भिक्षु तैयार करने थे।

एक ब्राह्मण कहीं से प्रव्रजित होकर भगवान के पास आया और कहने लगा – आपके शिष्य प्रव्रजित हैं, वैसे ही मैं प्रव्रजित हूं।

भगवान ने उससे कहा – घर छोड़ कर मात्र प्रव्रज्या लेने वाले को मैं प्रव्रजित नहीं कहता।

बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितोति वुच्चति॥

(ध० प० ३८८, ब्राह्मणवग्ग)

– ब्राह्मण वह है जिसने पाप को बहा दिया है। श्रमण वह है जो समता का आचरण करता है। प्रव्रजित उसे कहा जाता है जिसने अपने चित्त के मैल दूर कर दिये हों।

केवल नाम के लिए प्रव्रजित होना किस काम का?

एक अन्य ब्राह्मण कहीं से प्रव्रजित होकर भगवान के पास आया और बोला – आप अपने भिक्षुओं को भिक्षु कहते हैं, मैं भी तो भिक्षु हूं। इस पर भगवान ने कहा –

न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥

(ध० प० २६६, धम्मट्ठवग्ग)

– परायों के पास जाकर भिक्षा मांगने मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता और न ही भिक्षु होता है सांसारिक धर्मों को ग्रहण करने से यानी दुनियादारी के झमेले में पड़ने से।

केवल नाम के लिए भिक्षु होना किस काम का?

योध पुञ्ञञ्च पापञ्च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति, स वे भिक्खूति वुच्चति॥

(ध० प० २६७, धम्मट्ठवग्ग)

– यहां, इस धर्म मार्ग पर पुण्य और पाप दोनों को छोड़ कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जो ज्ञानपूर्वक लोक में विचरण करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

धर्म धारण न करे तो भिक्षु होना किस काम का?

अनेक ब्राह्मणों की भांति अनेक श्रमण और भिक्षु भी धर्म धारण न कर केवल बाहरी दिखावे और पाखंड में लगे रहते थे। उन्हें भी भगवान ने वैसी ही प्यार भरी फटकार सुनायी जिससे कि वे शुद्ध धर्म को समझें और उसे धारण कर अपना कल्याण साध लें।

उन्होंने समझाया कि भिक्षु वह है जो दोष रूपी दुःखों का छेदन-भेदन करता है, उन्हें छिन्न-भिन्न करता है।

सक्कायदिट्ठि... विचिकिच्छा... सीलब्बतपरामासो... रागो... दोसो... मोहो... मानो भिन्नो होति। इमेतं खो, भिक्खवे, सत्तन्नं धम्मानं भिन्नत्ता भिक्खु होतीति।

(अ० नि० ३.७.८५, भिक्खुसुत्त)

– (उनके सात संयोजन–) सत्काय-दृष्टि..., संशय..., किसी शील या व्रत के प्रति आसक्ति..., राग..., द्वेष..., मोह... और मान– छिन्न-भिन्न होते हैं। भिक्षुओ, इन सातों में छिन्नता और भिन्नता प्राप्त होती है, तो ही भिक्षु भिक्षु होता है।

जो भिक्षु अपने दोषों को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास नहीं करता, वह भिक्षु कहलाने योग्य नहीं है।

भिक्षु हत्थक को झूठ बोलते देख कर भगवान ने उसे धिक्कारा–

न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥

(ध० प० २६४, धम्मट्ठवग्ग)

– जो व्रत-त्यागी है, मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता। इच्छा और लोभ में डूबा हुआ व्यक्ति क्या श्रमण होगा भला?

यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, समणोति पवुच्चति॥

(ध० प० २६५, धम्मट्ठवग्ग)

– जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन कर लेता है, वह श्रमण इसीलिए कहा जाता है कि उसने अपने पापों को शमित कर लिया है।

कोई व्यक्ति देखने में सुंदर हो। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो। बोलने में चतुर हो, चारुवाक(चार्वाक) हो, तो इससे वह व्यक्ति सात्त्विक साधु नहीं हो जाता। भले ही देखने में वह साधु जैसा लगे।

न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥

(ध० प० २६२, धम्मट्ठवग्ग)

– कोई व्यक्ति वक्ता होने मात्र से अथवा सुंदर, साधु जैसा उसका रूप होने मात्र से वह साधु नहीं हो जाता, जब कि वह ईर्ष्यालु हो, मत्सरी हो और शठ हो।

यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी, साधुरूपोति वुच्चति॥

(ध० प० २६३, धम्मट्ठवग्ग)

– जिसके ये दोष पूरी तरह उच्छिन्न हो गये हों, जड़ से उखड़ गये हों, वही वीतद्वेष, मेधावी, साधु कहा जाता है।

एक व्यक्ति वाक्पटु हो, पर हो दुःशील तो वह साधु नहीं होता। इसी प्रकार एक मूढ़ व्यक्ति ऐसा हो जो अच्छा वक्ता न होने के कारण लज्जावश चुप्पी साधे रहे और यों मौन रहने के कारण अपने को मुनि कहे तो वह भी वस्तुतः मुनि नहीं होता। उसके लिए भगवान ने कहा–

न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलंव पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो॥

(ध० प० २६८, धम्मट्ठवग्ग)

– कोई मूढ़, अविद्वान मौन रहने मात्र से मुनि नहीं हो जाता। जो पंडित है, वह अच्छाई-बुराई को तौलने के लिए मानो तराजू को ठीक से धारण करने वाला है। और –

पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके, मुनी तेन पवुच्चति॥

(ध० प० २६९, धम्मट्ठवग्ग)

– जो दोनों लोकों की अच्छाई-बुराई को माप लेता है और पाप कर्मों का परित्याग कर देता है, वह मुनि ही सही मुनि है। वही मुनि कहलाने योग्य है।

अज्ञानी होने के कारण मौन रहने वाला मुनि नहीं होता, परंतु यदि ज्ञानी हो, आस्रव-विमुक्त हो और अधिष्ठान में अचल बैठा हुआ आर्यमौन का पालन कर रहा हो, तो वह निश्चय ही मुनि है।

कायमुनिं वचीमुनिं, चेतोमुनिं अनासवं।
मुनिं मोनेय्यसम्पन्नं, आहु सब्बप्पहायिनं॥

(अ० नि० १.३.१२३, मोनेय्यसुत्त)

– जिसकी काया मौन है, वाणी मौन है, चित्त मौन है, वह आर्यमौन संपन्न, अनास्रव, सर्वत्यागी मुनि कहलाता है।

कोई व्यक्ति गले में भिक्षुओं का काषाय वस्त्र तो पहन लेता है, पर दुष्कर्मों में रत रहता है, उसे लक्ष्य करके भगवान ने कहा –

कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे॥

(ध० प० ३०७, निरयवग्ग)

– ऐसे कितने ही पापी, असंयमी हैं, जो (लोगों को ठगने के लिए) गले में गेरुआ वस्त्र डाले रहते हैं। वे अपने पापकर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं।

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥

(ध० प० ९, यमकवग्ग)

– चित्त के मैल बिना हटाये जो काषाय वस्त्र पहनता है वह संयम और सत्य से हीन होने के कारण काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥

(ध० प० १०, यमकवग्ग)

– जिसने चित्त के मैल दूर कर दिये हैं, जो शील में समाहित है जो संयमित है, और सत्यवादी है, वही काषाय वस्त्र का अधिकारी है।

सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तोति वुच्चति॥

(ध० प० ३७८, भिक्खुवग्ग)

– काया से शांत, वाणी से शांत, सुसमाहित शांत भिक्षु, जिसने सांसारिक मैल का वमन कर दिया है, वही उपशांत कहा जाता है।

भिक्षु को यह शांत अवस्था किसी उम्र में भी प्राप्त हो सकती है। इसके लिए पके बाल, पकी उम्र अनिवार्य नहीं है। किसी के पके बाल देख कर ही उसे भिक्षु नहीं कह देना चाहिए। भिक्षु लकुण्टक भद्दिय उम्र में छोटे थे और कद में भी नाटे थे, परंतु मुक्त, अरहंत अवस्था प्राप्त कर चुके थे। नासमझ लोग उनके शरीर को देख कर उन्हें श्रामणेर समझते थे। उनकी यह भ्रांति दूर करते हुए और धर्म को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा –

न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णोति वुच्चति॥

(ध० प० २६०, धम्मट्ठवग्ग)

– सिर के बाल सफेद हो जाने से कोई स्थविर नहीं हो जाता। उसकी आयु अवश्य परिपक्व हुई है पर वह बूढ़ा अज्ञानी ही कहलाता है।

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो इति पवुच्चति॥

(ध० प० २६१, धम्मट्ठवग्ग)

– जिसमें सत्य है, धर्म है, अहिंसा है, संयम है, वही विगतमल, धीर स्थविर कहलाता है।

पहीनजातिमरणो, ब्रह्मचरियस्स केवली।
तमहं वदामि थेरोति, यस्स नो सन्ति आसवा॥

(अ० नि० १.४.२२, दुतियउरुवेलसुत्त)

– जो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त है, जो ब्रह्मचारी है, केवली है, जिसमें आस्रव नहीं रह गये हैं। मैं उसे स्थविर कहता हूं।

महत्त्व गुणों का है, नाम का नहीं। यदि यथानाम तथागुण हों, तो ही उसका ब्राह्मण या श्रमण या भिक्षु या स्थविर या साधु कहलाना सार्थक है, अन्यथा निरर्थक है। भगवान के संपर्क में एक व्यक्ति आया, जिसका नाम तो था आर्य, परंतु उसकी आजीविका थी मछली मारने की। आर्य नामक उस मछुवे को देख कर भगवान ने कहा –

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोति पवुच्चति॥

(ध० प० २७०, धम्मट्ठवग्ग)

– जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक बने रहने पर आर्य कहा जाता है।

एक सम्यक संबुद्ध और दूसरे सम्यक संबुद्ध के बीच के लंबे अंतराल में शब्द छनते हुए चले आते हैं, परंतु उनका सही अर्थ भुला दिया जाता है। कभी कभी उनका दुरुपयोग भी होने लगता है। सम्यक संबुद्ध निरुक्ति प्रतिसंभिदा में, अर्थ प्रतिसंभिदा में, धर्म प्रतिसंभिदा में और प्रतिभान प्रतिसंभिदा में निपुण होते हैं। इसी कारण किसी शब्द की उत्पत्ति को, उसके अर्थ को, उसमें समाये हुए धर्म को अपनी प्रतिभा के बल पर समझते हैं और लोगों को समझाते हैं। लोग शब्दों का धर्ममय सही अर्थ समझते हैं, तो उनका दुरुपयोग करने से बचते हैं। श्रमण, ब्राह्मण, आर्य आदि शब्द बहुत गरिमामय हैं। भगवान ने कहा –

समणोति, भिक्खवे, ब्राह्मणो… वेदगू… भिसक्को… निम्मलो… विमलो… ञाणी… विमुत्तोति भिक्खवे, तथागतस्सेतं अधिवचनं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्साति।

(अ० नि० ३.८.८५, समणसुत्त)

– भिक्षुओ, श्रमण, ब्राह्मण…, वेदगू…, भिषक…, निर्मल…, विमल…, ज्ञानी… विमुक्त शब्द तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध के पर्यायवाची हैं, यानी समानार्थी हैं।

जो व्यक्ति आस्रवों से नितांत विमुक्त हो जाता है, वही ऐसे नामों से जाना जाता है।

अयं वुच्चति, भिक्खवे, भिक्खु समणोइतिपि ब्राह्मणोइतिपि न्हातकोइतिपि वेदगूइतिपि सोत्तियोइतिपि अरियोइतिपि अरहंइतिपि।

(म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

– भिक्षुओ, ऐसा आस्रवमुक्त भिक्षु श्रमण भी कहलाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदज्ञ भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी और अरहंत भी।

भगवान ने इन शब्दों की सही व्याख्या भी प्रस्तुत की।

श्रमण यानी –

समितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापों का शमन हो गया।

ब्राह्मण यानी –

बाहितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराई बहा दी गयी।

स्नातक यानी –

न्हातास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापकर्म सब धुल गये।

वेदगू यानी –

विदितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसने वेदनाओं के स्तर पर अकुशल धर्म एवं बुराइयों को विदित कर लिया।

श्रोत्रिय यानी –

निस्सुतास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापकर्म निःसृत हो गये, निकल गये।

आर्य यानी–

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराइयां दूर हो गयीं।

अरहंत यानी–

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराइयां दूर हो गयीं। (म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

लोक कल्याण के लिए ही सत्य का प्रकाशन करना भगवान बुद्ध का मंतव्य था। इसमें उनका अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं था। ब्राह्मण 'सही ब्राह्मण' बने, श्रमण 'सही श्रमण' बने। आर्य 'सही आर्य' बने– यही अभिप्राय था। स्वयं दूषित जीवन जीते हुए भी ऐसे गरिमामय नाम धारण करके कोई अपने आपको धोखे में न रखे। यही लक्ष्य होने के कारण भगवान की वाणी में सर्वत्र मृदुता थी, मधुरता थी, स्निग्धता थी, सौम्यता थी। कभी-कभार आवश्यकतानुसार शब्दों में किंचित कठोरता प्रकट होती भी थी तो उसमें कटुता लेशमात्र भी नहीं होती थी। उनकी वाणी मैत्री और करुणा के भावों से सदा ओत-प्रोत रहती थी। अतः सुनने वाला तत्काल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। उनका लक्ष्य किसी को नीचा दिखा कर अपमानित करना नहीं होता था, बल्कि नीचे गिरे हुए का होश जगा कर उसे ऊपर उठाना होता था। वे जीवन भर यही करते रहे। कल्याण-कामना से अभिभूत होकर पतितों का उद्धार करते रहे। धर्म-मार्ग से पृथक पड़े लोगों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करते रहे। जब बोलते तो किसी का मन दुखाने के लिए नहीं, बल्कि सोये हुए को जगाने के लिए ही बोलते थे।

भगवान विद्यासंपन्न थे–

अयं खो मे, ब्राह्मण, रत्तिया पठमे यामे पठमा विज्जा अधिगता; अविज्जा विहता विज्जा उप्पन्ना; तमो विहतो आलोको उप्पन्नो।

(अ० नि० ३.८.११, वेरञ्जसुत्त)

– हे ब्राह्मण, रात के प्रथम याम में मुझे यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। अंधकार नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

बुद्ध बोधिसंपन्न हुए अर्थात धर्मसंपन्न हुए, विद्यासंपन्न हुए, आलोकसंपन्न हुए। उनका जीवन ज्ञान के आलोक से भर गया। इसी कारण उन्होंने जहां कहीं धर्म का शुद्ध, सत्य स्वरूप विकृत हुआ देखा वहीं उसे तत्काल सुधारने के काम में लग गये।

भगवान चरणसंपन्न हुए यानी गहरे ध्यानों द्वारा ब्रह्मविहारी हुए तो मैत्रीसंपन्न हुए, करुणासंपन्न हुए। उनका जीवन ब्रह्मविहार से ओत-प्रोत हो गया। भारत की धरती पर मैत्री और करुणा मूर्तिमंत हो विचरण करने लगी। लोगों ने सजीव मैत्री और करुणा का दर्शन किया। भगवान के हर क्रिया-कलाप में मैत्री ही मैत्री समा गयी, करुणा ही करुणा समा गयी। अतः जब कभी, जिस किसी के दोष सुधारते, तो संबल मैत्री और करुणा का ही रहता। तभी उन्हें अपने जीवन काल में ही इतनी बड़ी सफलता मिली।

उनकी कल्याणी करुणा के दर्शन तिपिटक में स्थान-स्थान पर होते हैं।

अंबट्ठ माणवक

कुछ क्षण पूर्व ही अंबट्ठ माणवक ने भगवान बुद्ध को गालियां दी थीं, शाक्यों को गालियां दी थीं और जब सिद्ध हुआ कि उसका पूर्वज कृष्ण शाक्यों के आदिपुरुष सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु का दासी-पुत्र था, तो उसके साथियों ने अंबट्ठ की भर्त्सना करनी शुरू की, उसे धिक्कारने लगे। लज्जित हुए अंबट्ठ पर उस समय भगवान की महती करुणा उमड़ी। उसे बचाते हुए उन्होंने कहा कि अंबट्ठ का पूर्वज कृष्ण एक महान योगी था। इस तरह अंबट्ठ को लज्जा-संकोच से उबारा। उसके गुरु ने अंबट्ठ की बदतमीजी के बारे में सुना, तो उसकी ओर से भगवान से क्षमा मांगी। भगवान ने क्षमा करते हुए कहा–"अंबट्ठ माणवक सुखी हो।"

कहीं द्वेष, दुर्भाव का नामोनिशान नहीं। केवल करुणा ही करुणा।

आक्रोशक भारद्वाज

हमने ऊपर देखा कि भगवान के बढ़ते हुए प्रभाव से चिढ़ा हुआ ब्राह्मण आक्रोशक भारद्वाज भगवान के पास गालियां बकते हुए आया। भगवान शांत चित्त रहे और करुण चेतना से उन्होंने उसका गालियों का उपहार अस्वीकार किया। ऐसा करुणापूर्ण व्यवहार देख कर उस ब्राह्मण का जीवन परिवर्तित हो गया।

अंगुलिमाल

हत्यारे अंगुलिमाल पर करुणा उमड़ी, तो स्वयं उसके पास गये। विपुल करुणा और मैत्री की तरंगों से प्रभावित कर उसे नारकीय जीवन से उबारा।

नालागिरि

मनुष्य तो मनुष्य, पशुओं पर भी उनकी करुणा बरसी। यज्ञ की वेदियों पर बलि हेतु बँधे हजारों पशुओं के उन्होंने प्राण बचाये। अपनी ओर दौड़ कर आते हुए दुर्धर्ष हाथी नालागिरि पर भी मैत्री और करुणा की ऐसी वर्षा की कि वह प्रमत्त पशु समीप आया तो शांत होकर उनके चरणों में झुक गया।

वीमार भिक्षु

जैसी करुणा वाहर वालों पर थी, वैसी ही उनके पास प्रव्रजित हुए भिक्षुओं पर भी थी। कोई वीमार हो जाता, तो स्वयं उसे देखने जाते। भिक्षु उन्हें आता देख कर सम्मान में खटिया से उठने लगता तो उसे रोकते। खटिया पर लेटे रहने को कहते और वे स्वयं पास विछे आसन पर बैठ कर उसे धर्ममयी सान्त्वना के दो शब्द कहते। उसका मनोवल वढ़ाते। एक भिक्षु अत्यंत रुग्ण अवस्था में खटिया पर ही मल-मूत्र में पड़ा था। उसके शरीर के

घाव चू रहे थे। स्वयं भगवान ने गर्म पानी से उसकी सेवा-परिचर्या की। उसे नहला-धुला कर स्वच्छ किया। उसके घाव धोये, पोंछे। रोगियों की इसी प्रकार सेवा करने के लिए अन्य भिक्षुओं को प्रोत्साहित किया।

आगंतुक भिक्षु

कोई भिक्षु धर्मचारिका करके थका-मांदा लौटता, तो वड़े प्यार से दो शब्द कह कर उसका श्रम हरते। आते ही पूछते -

कच्चि भिक्खु, खमनीयं, कच्चि यापनीयं - कहो भिक्षु, क्षेमपूर्वक तो हो? कुशल तो है?

कच्चिसि अप्पकिलमथेन अद्धानं आगतो - आते हुए मार्ग में वहुत कठिनाई तो नहीं हुई?

न च पिण्डकेन किलन्तोसीति - भिक्षा मिलने में दिक्कत तो नहीं हुई?

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

बाप जैसे अपने प्रिय पुत्र का कुशल-क्षेम पूछता है, यों एक-एक भिक्षु पर उनका प्यार उमड़ा पड़ता था। यही प्यार सवके प्रति था। चाहे अंतिम भोजन देने वाले चुंद को आश्वासन-भरा संदेश भिजवा रहे हों, चाहे निरुत्साहित आनंद को ढाढ़स बंधा रहे हों, चाहे जीवन के अंतिम समय मुमुक्षु सुभद्र की धर्म-जिज्ञासा का समाधान कर रहे हों, सर्वत्र उनकी करुणा ही मुखरित होती रही। तिपिटक में ऐसे और न जाने कितने प्रसंग हमारे सामने आते हैं, जो भगवान की प्रज्ञा और करुणा से सरावोर हैं।

प्रज्ञा और करुणा के कारण ही भगवान का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली था। आगंतुक पर उसकी गहरी छाप पड़ती थी। बड़े से बड़ा विरोधी भी उनके सम्मुख हतप्रभ हो जाता था।

निग्रोध परिव्राजक

निग्रोध परिव्राजक ने भगवान की अनुपस्थिति में उनकी बहुत निंदा की। कहा - शून्यागार में रहते-रहते श्रमण गौतम की मति मारी गयी है।

श्रमण गौतम सभा से मुँह चुराते हैं। वार्त्तालाप कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए लोगों से दूर-दूर भागते फिरते हैं, जैसे कानी गाय अकेली ही औरों से अलग-अलग भागी फिरती है। यदि श्रमण गौतम इस सभा में आएं तो एक ही प्रश्न द्वारा उन्हें चकरा दूं। उन्हें खाली घड़े की भांति जिधर चाहूं उधर घुमा दूं। इतने में संयोग से भगवान वहां आ पहुँचे। उन्हें आया देख कर निग्रोध परिव्राजक शेखी बघारना भूल गया। उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी और कह उठा - 'पधारें, स्वागत है आपका। भगवान ने बहुत दिनों के बाद यहां आने की कृपा की। भगवान बैठें। यह आसन बिछा है।' यों कह कर उसने भगवान को ऊंचे आसन पर बिठाया और स्वयं नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया।

केवल एक यही नहीं, ऐसे अनेक प्रसंग हमारे देखने में आते हैं। भगवान से प्रव्रजित हुए भिक्षु अथवा भगवान को भोजन के लिए घर पर आमंत्रित करने वाले सद्-गृहस्थ तो स्वभावतः उन्हें सम्मानपूर्वक ऊंचे आसन पर बैठा कर स्वयं नीचे आसन पर बैठते ही थे, परंतु जो भगवान के शिष्य या भक्त उपासक नहीं थे बल्कि निग्रोध की भांति अपने-अपने आश्रम के अधिष्ठाता संन्यासी थे, वे भी भगवान को ऊंचे आसन पर बैठा कर स्वयं नीचे आसन पर बैठा करते थे। चाहे राजगृह के मोरनिवाप का संन्यासी सकुलुदायी हो या श्रावस्ती के आराम तन्दुकाचीर का संन्यासी पोट्ठपाद हो या कोई अन्य।

यह सब भगवान के आकर्षक और चमत्कारिक व्यक्तित्व के कारण होता था। परंतु किसी के व्यक्तित्व से कोई थोड़ी सी देर के लिए भले अभिभूत हो जाय, परंतु सदा के लिए अनुगामी नहीं बन सकता। ये भगवान के करुणासिक्त, प्रज्ञापूर्ण उपदेश ही थे, जो लोगों को आजीवन उनका अनुयायी बना देते थे। और फिर उनसे कल्याणकारी विपश्यना विद्या सीख कर लाभान्वित हो जाने पर तो उनका परम भक्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

मागंधीय

कुरु के कम्मासधम्म का निवासी ब्राह्मण मागंधीय श्रमणों का बड़ा निंदक था। अपने शास्त्रों के आधार पर उन्हें **भूनहू** (भ्रूण-हत्यारे) कह कर अपमानित करता था। उनका दर्शन करना भी बुरा मानता था। भगवान के प्रति भी उसने ऐसा ही अभद्र व्यवहार किया। परंतु जब उनकी प्रज्ञामयी और करुणा-भरी वाणी सुनी तो प्रभावित होकर कह उठा -

एवं पसन्नो अहं भोतो गोतमस्स - मैं आप गौतम के प्रति श्रद्धालु हूं।

पहोति मे भवं गोतमो तथा धम्मं देसेतुं, यथाहं आरोग्यं जानेय्यं, निब्बानं पस्सेय्यं।

(म० नि० २.२१८, मागण्डियसुत्त)

- आप गौतम मुझे वैसा धर्म-उपदेश दें, जिससे कि मैं आरोग्य को जान सकूं, निर्वाण का साक्षात्कार कर सकूं।

ऐसा हृदय परिवर्तन महज चमत्कारिक व्यक्तित्व से नहीं होता था, महाकारुणिक भगवान की कल्याणी वाणी सुनकर ही होता था।

सकुलुदायी

भगवान बुद्ध की वाणी में सुनी-सुनायी अथवा कपोल-कल्पित बातें नहीं होती थीं। वे जो कुछ कहते थे, अपने निजी अनुभव के आधार पर कहते थे। उनकी वाणी में सच्चाई भरी होती थी। वे सहज, सरल जनभाषा में बोलते थे, जो सबके लिए बुद्धि-गम्य होती थी। उनके अनुयायी भक्त ही नहीं, बाहर के लोग भी जब उन्हें सुनते तो अवाक रह कर उनकी ओर एकटक देखते हुए सुनते ही रह जाते। इस सच्चाई को प्रकट करते हुए राजगृह के परिव्राजकाराम का संन्यासी सकुलुदायी बोला -

यदा पन, भन्ते, भगवा इमं परिसं उपसङ्कन्तो होति। - जब भंते, भगवान इस परिषद के पास होते हैं,

अथाहञ्चेव अयञ्च परिसा - तब यह परिषद और मैं -

भगवतो मुखं उल्लोकेन्ता निसिन्ना होम - भगवान के मुख की ओर टकटकी लगाये बैठे रहेंगे।

यं नो भगवा धम्मं भासिस्सति, तं सोस्साम - भगवान जो धर्म उपदेश करेंगे, उसे हम सुनेंगे। (म० नि० २.२७०, चूळसकुलुदायिसुत्त)

उनकी वाणी में सच्चाई थी। निःस्वार्थ लोक मंगल की भावना थी। इसीलिए लोग दत्तचित्त होकर उन्हें सुनते थे।

पोट्ठपाद

भगवान से निकम्मी बहस करते-करते उनकी वाणी की सार्थकता को समझता हुआ संन्यासी पोट्ठपाद कह उठा -

...समणो गोतमो भूतं तच्छं तथं पटिपदं पञ्ञपेति धम्मट्ठितं धम्मनियामतं।

- श्रमण गौतम यथाभूत सत्य और तथ्य का मार्ग प्रकट करते हैं, जो धर्म-स्थिति और धर्मनियामता का मार्ग है।

धर्म के बँधे-बँधाये नियम होते हैं जो सब पर एक जैसे लागू होते हैं। यह धर्म-स्थिति सबके लिए एक जैसी होती है, अतः भगवान की वाणी में सर्वमान्य सत्य प्रकाशित होता था, जो लोक-कल्याणकारी होता था। उसे कोई भी समझदार व्यक्ति कैसे नकार सकता था? उसका कोई कैसे विरोध कर सकता था? इसी को लक्ष्य कर संन्यासी पोट्ठपाद ने आगे कहा -

भूतं खो पन तच्छं तथं पटिपदं पञ्ञपेन्तस्स धम्मट्ठिततं धम्मनियामतं।

- इस प्रकार सत्य और तथ्य पर आधारित धर्म-स्थिति और धर्म-नियमों के अनुकूल प्रतिपदा के प्रकाशन को -

कथं हि नाम मादिसो विञ्ञू समणस्स गोतमस्स सुभासितं सुभासिततो नाब्भनुमोदेय्य।

(दी० नि० १.४२१, पोट्ठपादसुत्त)

- मुझ जैसा समझदार व्यक्ति श्रमण गौतम के इस सुभाषित को सुभाषित मान कर अनुमोदन कैसे नहीं करेगा?

सच्चाई-भरी लोकोपयोगी सर्वमान्य वैज्ञानिक बात को कोई कैसे अस्वीकार करता भला!

अचेल काश्यप

एक समय भगवान उजुञ्ञा के पास कण्णकत्थल मृगदाय में विहार कर रहे थे। तब अचेल काश्यप नाम का एक नग्न संन्यासी उनसे मिलने आया। वह बहुत देर तक देह-दंडन की साधना की महत्ता को लेकर भगवान से बहस करता रहा। भगवान ने निकम्मी बहस में न पड़ कर उसे कहा कि जिन-जिन बातों में हमारी असहमति है, उन्हें एक ओर रखें और आओ, जिन-जिन बातों में हमारी सहमति है उन पर विस्तार से चर्चा करें। भगवान ने सच्ची तपश्चर्या का तात्पर्य चित्त-विशुद्धि की उपलब्धि बताया। इसे स्वीकार करते-करते नग्न संन्यासी को धर्म की सही बात समझ में आने लगी और वह उत्साहित होकर बोला -

को हि, भन्ते, भगवतो धम्मं सुत्वा न अत्तमनो अस्स परं विय मत्ताय।

- भगवान से धर्म को सुन कर भला कौन अत्यंत प्रसन्न और संतुष्ट न होगा?

अहम्पि हि, भन्ते, भगवतो धम्मं सुत्वा अत्तमनो परं विय मत्ताय।

- भंते, मैं भी आपसे धर्म को सुन कर अत्यंत प्रसन्न और संतुष्ट हुआ हूं।

अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते - भंते, क्या खूब कहा है आपने; भंते, क्या खूब कहा है आपने। (दी० नि० १.४०४, महासीहनादसुत्त)

वह भाव-विभोर हो कह उठा - जैसे कोई उल्टे हुए को सीधा कर दे, ढके को उघाड़ दे, भूले-भटके को मार्ग दिखा दे, अंधेरे में तेल का दीपक जला दे ताकि आंखवाले देख सकें। ऐसे ही भगवान ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है।

भगवान के शिष्य

जो भगवान के पास प्रव्रजित हुए, वे भिक्षु भगवान से और उनकी शिक्षा से पूरी तरह प्रभावित थे। वे भगवान की शिक्षा से प्रत्यक्ष लाभान्वित हुए थे। अतः उनके मुँह से कृतज्ञता-भरे प्रशंसा के शब्द निकलने स्वाभाविक थे। एक अवसर पर जेतवन के भिक्षु परस्पर बात कर रहे थे। उन्होंने हर्ष-भरे उद्गार प्रकट किये-

अच्छरिया चेव, आवुसो, तथागता अच्छरियधम्मसमन्नागता च।

– आश्चर्यजनक हैं, आवुस, तथागत और आश्चर्यजनक है उनकी धर्मसंपन्नता।

अब्भुता चेव, आवुसो, तथागता अब्भुतधम्मसमन्नागता च।

– अद्भुत हैं, आवुस, तथागत और अद्भुत है उनकी धर्मसंपन्नता।

(म० नि० ३.१९७, अच्छरियअब्भुतसुत्त)

जानुस्सोणि ब्राह्मण ने यह ठीक ही कहा कि जो कुल-पुत्र घर-बार छोड़ कर आपके पास प्रव्रजित हुए हैं-

भवं तेसं गोतमो पुब्बङ्गमो – आप गौतम उनके अग्रगामी नेता हैं।
भवं तेसं गोतमो बहुकारो – आप गौतम उनके बहुत उपकारी हैं।
भवं तेसं गोतमो समादपेता – आप गौतम उनके उपदेष्टा हैं।

(म० नि० १.३४, भयभेरवसुत्त)

इसी कारण यह जन-समुदाय आप गौतम द्वारा साक्षात्कार किए हुए धर्म का अनुगमन करता है।

किसी परंपरागत, काल्पनिक मार्ग का नहीं, बल्कि स्वयं भगवान का देखा-जाना मार्ग। ऐसे मार्ग पर स्वयं चल कर वे उपकृत हुए हैं, कृतार्थ हुए हैं। अतः उनके द्वारा भगवान की प्रशंसा करना स्वाभाविक ही है।

लगभग पैंतालीस वर्षों तक भगवान के सान्निध्य में रहने वाले सारिपुत्त का यह कहना है–

एवंपसन्नो अहं, भन्ते, भगवति – मेरा ऐसा विश्वास है, भंते भगवान, कि–

न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति अञ्ञो समणो वा ब्राह्मणो वा भगवता भिय्योभिञ्ञतरो यदिदं सम्बोधियं। (दी० नि० २.१४५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– संबोधि में भगवान से बढ़ कर कोई दूसरा श्रमण ब्राह्मण न हुआ, न होगा और न इस समय है।

भगवान को इतने समीप से देखने-परखने वाले सारिपुत्त का यह उद्गार स्वाभाविक है।

परंतु एक सामान्य गृहस्थ ने भी भगवान के बारे में यही कहा–

ये केचिमे तित्थिया वादसीला, आजीवका वा यदि वा निगण्ठा।
पञ्ञाय तं नातितरन्ति सब्बे, ठितो वजन्तं विय सीघगामिं॥

(सु० नि० ३८३, धम्मिकसुत्त)

– जितने भी वाद-विवादी आजीवक या निर्ग्रंथ हैं, वे सब आपसे प्रज्ञा में वैसे ही आगे नहीं बढ़ सकते, जैसे कि खड़ा रहने वाला शीघ्र चलने वाले से।

सचमुच भगवान की प्रज्ञा थी ही ऐसी कि उनके समीपवर्ती लोग ही नहीं, बल्कि थोड़े समय के लिए बातचीत करने के लिए आये हुए अन्य श्रमण, ब्राह्मण भी बातचीत पूरी होने पर उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे।

अग्गिवत्सगोत्र

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। तब अग्नि नामक वत्सगोत्रीय संन्यासी भगवान से मिलने आया। वह भगवान से ऐसे प्रश्न पूछने लगा जिनका भगवान उत्तर नहीं देते थे, क्योंकि वे निरर्थक अप्रासंगिक प्रश्न थे। उनका चित्त-विशुद्धि से, संबोधि से या विमुक्ति-निर्वाण से कोई संबंध नहीं था। वे केवल दार्शनिकों के थोथे बुद्धि-विलास और वाणी-विलास से उत्पन्न थे और इसलिए हानिकारक थे।

कुछ देर की बातचीत के बाद भगवान ने उसे शुद्ध धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुन कर वह समझ गया कि भगवान निकम्मी, निरर्थक एवं निस्सार बातों में अपना समय नहीं बरबाद करते। वे निस्सार को त्याग कर शुद्ध धर्म का सार ही बताते हैं, जो सर्वहितकारी है, मुक्तिदायी है। इसे समझ कर वह अत्यंत आह्लादित होकर बोल उठा –

हे गौतम, गांव या निगम के समीप कोई महान शाल वृक्ष हो, उसके शाखा-पत्र नष्ट हो जायँ, छाल-पपड़ी नष्ट हो जायँ, गूदा नष्ट हो जाय और वह सार-मात्र में अवस्थित रह जाय; ऐसे ही आप गौतम का यह प्रवचन शाखा-पत्र रहित, छाल-पपड़ी रहित, गूदा रहित, शुद्ध सार-मात्र में अवस्थित है।

(म० नि० २.१९२, अग्गिवच्छसुत्त)

गणक मौद्गल्यायन

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में मिगारमाता के पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। तब गणक नामक मौद्गल्यायन गोत्रीय ब्राह्मण उनसे मिलने आया। वार्त्तालाप के दौरान उसने पूछा – जैसे ब्राह्मणों के अध्ययन में क्रमबद्ध शिक्षा दी जाती है, क्या वैसे ही आपकी धर्म-शिक्षा भी क्रमबद्ध है? भगवान ने धर्म-शिक्षा का क्रमबद्ध ब्यौरा समझाया, जिसे सुन कर गणक आश्चर्यचकित हुआ कि यह शिक्षा निर्वाण अवस्था तक ले जाती है। उसने पूछ लिया कि जिसे शिक्षा दी जाती है, क्या वे सभी निर्वाण अवस्था तक पहुँच जाते हैं? भगवान ने बताया कि कोई-कोई पहुँचते हैं, कोई कोई नहीं भी पहुँचते।

इस पर गणक ने पूछा – निर्वाण की विद्यमानता होते हुए भी, निर्वाण तक पहुँचने का मार्ग होते हुए भी और आप जैसा मार्ग-दर्शक होते हुए भी कोई कोई निर्वाण तक क्यों नहीं पहुँच पाते?

भगवान ने उत्तर देने के पहले उसी से प्रति-प्रश्न किया – तुम राजगृह तक का मार्ग खूब जानते हो। कोई तुमसे मार्ग पूछे और तुम पूछने वालों को सही-सही मार्ग बता दो। उनमें से कोई तो ठीक रास्ते चल कर राजगृह पहुँच जाय, कोई कुरास्ते पड़ कर भटक जाय, राजगृह नहीं पहुँचे, तो तुम क्या

कहोगे? राजगृह की विद्यमानता होते हुए भी, वहां तक जाने का मार्ग होते हुए भी, तुम्हारे जैसा पथ बताने वाला होते हुए भी वह राजगृह क्यों नहीं पहुँचता?

तो ब्राह्मण ने उत्तर दिया – हे गौतम, मैं इसमें क्या करूं? मैं तो महज मार्ग बताने वाला हूं।

इस पर भगवान ने समझाया – ऐसे ही ब्राह्मण, निर्वाण के रहते हुए भी, निर्वाणगामी मार्ग के रहते हुए भी, मार्ग-दर्शक के रहते हुए भी कोई निर्वाण तक न पहुँचे, तो इसमें मैं क्या करूं? ब्राह्मण, मैं तो केवल मार्ग आख्याता हूं।

एत्थ क्याहं, ब्राह्मण, करोमि? मग्गक्खायीहं, ब्राह्मण, तथागतो।

(म० नि० ३.७७, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

गणक मौद्गल्यायन को बात खूब समझ में आयी। वह भाव-विभोर हो कह उठा –

हे गौतम, जैसे मूलगंध में खस सर्वश्रेष्ठ है, सारगंध में लोहित चंदन सर्वश्रेष्ठ है, पुष्पगंध में जूही सर्वश्रेष्ठ है,

एवमेव भोतो गोतमस्स ओवादो परमज्जधम्मेसु।

(म० नि० ३.७८, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

वैसे ही आजकल के जितने वाद हैं, उनमें आप गौतम का कथन सर्वश्रेष्ठ है।

यह सच है कि कहीं-कहीं भगवान को **मुण्डका, समणका, ईब्भा, कण्हा, बन्धुपादापच्चा** कह कर अथवा **भूनहू समणो गोतमो** कह कर निंदा भी की गयी, परंतु संसार में ऐसा कोई नहीं होता, जिसकी सदा प्रशंसा ही हो, जिसकी कभी निंदा हो ही नहीं। यह लोक-नियम है, लोक-धर्म है।

न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो॥

(ध० प० २२८, कोधवग्ग)

– एकमात्र निंदित ही निंदित अथवा एकमात्र प्रशंसित ही प्रशंसित व्यक्ति न था, न होगा और न आजकल है।

मूर्खों द्वारा निंदा या प्रशंसा वेमानी है। परंतु मेधावी, समझदार द्वारा निंदित ही वस्तुतः निंदित होता है। उसके द्वारा प्रशंसित ही वस्तुतः प्रशंसित होता है।

भगवान से मिले विना, उनकी पूरी वात सुने विना, कोई व्यक्ति भ्रमवश उनकी निंदा करता था, पर जव कोई समझदार व्यक्ति उनसे मिल कर वार्तालाप करता तव अपना भ्रम दूर कर ही लेता था और उसके मुँह से प्रशंसा के शब्द निकलने स्वाभाविक हो जाते थे।

सुभ माणवक

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में रहते थे। भगवान के अनेक भिक्षु अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। उनमें से कई धर्मचारिका पर निकल पड़ते, तो भी कोई न कोई श्रावस्ती में रहता ही था। इसीलिए लोगों में इस वात की चर्चा थी कि किसी समय भी –

अविवित्ता सावत्थी अरहन्तेहि – श्रावस्ती अरहंतों से शून्य नहीं रहती।

(म० नि० २.४६२, सुभसुत्त)

और उस समय तो श्रावस्ती में स्वयं भगवान विराज रहे थे। अतः भारद्वाज ब्राह्मण माणवक सुभ ने यह सुना तो भगवान से मिलने चला आया। अनेक ब्राह्मणों की भांति वह भी श्रमणों के प्रति पूर्वाग्रह ग्रसित था। अतः भगवान की पूरी बात सुने विना ही उसके मन में भगवान के प्रति दुर्भाव जागा।

समणो गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गौतम पापी है।

(म० नि० २.४६६, सुभसुत्त)

परंतु जब धैर्यपूर्वक उनकी पूरी बात सुनी, तो अत्यंत भाव-विभोर हो उठा। अपने को भगवान का उपासक शिष्य घोषित कर श्रद्धापूर्वक नमन कर चला गया। रास्ते में उसे श्वेत घोड़े जुते हुए, श्वेत रथ पर सवार

कोशल का राजपुरोहित जानुस्सोणि ब्राह्मण मिला, जिसके पूछने पर सुभ माणवक ने बताया कि वह भगवान बुद्ध से मिल कर आ रहा है।

इस पर जानुस्सोणि ने –

तं किं मञ्ञसि भवं भारद्वाजो समणस्स गोतमस्स पञ्ञावेय्यत्तियं पण्डितो मञ्ञेति?

– आप भारद्वाज श्रमण गौतम की प्रज्ञा के वारे में क्या मानते हैं, क्या वह पंडित जान पड़ता है?

इसके उत्तर में सुभ माणवक ने कहा –

को चाहं, भो, को च समणस्स गोतमस्स पञ्ञावेय्यत्तियं जानिस्सामि।

– भो, कहां श्रमण गौतम और कहां मैं! मैं कैसे उनकी प्रज्ञा को जानूंगा?

यानी जो उन जैसा प्रज्ञावान होगा, वही उनकी प्रज्ञा को जान सकेगा।

यह सुन कर ब्राह्मण जानुस्सोणि ने कहा –

उळाराय खलु भवं भारद्वाजो समणं गोतमं पसंसाय पसंसति।

– आप भारद्वाज वड़ी उदार वाणी से श्रमण गौतम की प्रशंसा करते हैं।

इस पर सुभ माणवक ने कहा –

को चाहं, भो, को च समणं गोतमं पसंसिस्सामि।

– भो, मैं क्या हूं जो श्रमण गौतम की प्रशंसा करूंगा?

वे तो देव-मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, अतः खूब प्रशंसित हैं ही। कुशल की आराधना के लिए ब्राह्मण जो पांच धर्म बतलाते हैं, श्रमण गौतम उन्हें ही वैर-रहित चित्त से भावना करने के लिए चित्तविशुद्धि सिखाते हैं, अर्थात हम तो केवल सिद्धांत की बात करते हैं। वे उन्हीं सिद्धांतों को व्यवहार में उतारना सिखाते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि यह वही सुभ है, जो भगवान की पूरी बात सुने बिना उनके प्रति ऐसा दूषित विचार रखता था कि- **समणो गोतमो पापितो भविस्सति।**

और अब उनके प्रति इतना श्रद्धालु हो गया।

उसकी यह बात सुन कर कोशल का राजपुरोहित जानुस्सोणि ब्राह्मण श्वेत घोड़े जुते, श्वेत रथ से उतर कर दुपट्टे को जनेऊ की भांति कंधे पर रख कर, जिधर भगवान थे, उस ओर हाथ जोड़ कर, प्रसन्न चित्त से बोल उठा -

लाभा रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स - लाभ है कोशल के राजा प्रसेनजित को,

यस्स विजिते तथागतो विहरति अरहं सम्मासम्बुद्धो।

(म० नि० २.४७२, सुभसुत्त)

- जिनके विजित राज्य में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध विहार करते हैं।

इसी प्रकार चाहे पिंगियानी, (अ० नि० २.५.१९४, कारणपालीसुत्त) हो, चाहे वात्स्यायन, (म० नि० १.२८८, चूळहत्थिपदोपमसुत्त) सब यही कहते थे कि भगवान की प्रज्ञा को कोई क्या माप कर बतायेगा भला? जो अगाध है उसे कोई क्या गाध सकेगा? जिसके पास गुणों का अक्षय भंडार है, उसे कोई कैसे भली-भांति शब्दों में उतार कर उनकी सही प्रशंसा कर सकेगा? फिर भी लोग भाव-विभोर होकर प्रशंसा करते ही रहते थे।

एक बार जब भगवान वज्जि जनपद में विहार कर रहे थे, तब वहां भी किसी ने भाव-विभोर होकर कहा था -

"वज्जियों का यह बहुत लाभ है कि उनके प्रदेश में भगवान तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध विहार कर रहे हैं।" (म० नि० १.३३१, चूळगोसिङ्गसुत्त)

जहां अरहंत का निवास होता है, वहां के लोगों को तो लाभ होता ही है, उस धरती को भी प्रकृति रमणीय कर देती है।

गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥

(ध० प० ९८, अरहन्तवग्ग)

- चाहे गांव हो या जंगल, चाहे नीची भूमि हो या ऊंचा स्थल, जहां अरहंत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय ही होती है।

लोगों के लाभ का तो कहना ही क्या? भगवान की सारी शिक्षा लाभ ही लाभ से भरी थी। आखिर भगवान क्या सिखाते थे? जीवन जगत की सार्वजनीन सच्चाइयां ही तो प्रकाशित करते थे। दुःख की सच्चाई, जो कि सार्वजनीन है। निर्धन, धनी, अनपढ़, विद्वान, पुरुष, नारी - सभी दुःख में से गुजरते हैं। जहां कोई अनचाही हुई या मनचाही न हो पायी, वहीं दुःखी हो जाते हैं। दुःखी इसलिए होते हैं कि मनचाही के प्रति बड़ी कामना है, तृष्णा है, चिपकाव है, आसक्ति है। तृष्णा और चिपकाव न हो तो मनचाही न होने मात्र से कोई दुःखी नहीं हो सकता। दुःख का कारण तृष्णा है, आसक्ति है। यह सार्वजनीन सत्य है। यह सच्चाई सब पर लागू होती है। जो दुःख तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है, वह तृष्णा और आसक्ति के न होने पर स्वतः दूर हो जाता है। सीधी-सरल बात है। दुःख के कारण का निवारण होने से दुःख का निवारण स्वतः हो जाता है। और कारण के निवारण का सीधा-सरल, सार्वजनीन मार्ग शील, समाधि और प्रज्ञा का आर्य अष्टांगिक मार्ग है, जिसे अपना कर कोई भी दुःख-मुक्त हो सकता है। यही शुद्ध धर्म-नियामता है। यह विश्व का विधान है जिसमें किसी का पक्षपात नहीं होता। किसी को ब्रह्मा के पांव से जन्मा बता कर दुत्कारा नहीं जाता। किसी को ब्रह्मा के मुँह से जन्मा बता कर सत्कारा नहीं जाता। धर्म के नियम सबके लिए एक समान हैं। कुदरत का कानून सब पर एक जैसा लागू होता है। यह धर्म नियामता ही शुद्ध धर्म है। इसका कोई कैसे विरोध करता? यही कारण था कि समझदार लोग भगवान से विवाद नहीं करना चाहते थे। इसीलिए आश्वलायन जैसे समझदार ब्राह्मण ने कहा -

समणो खलु, भो, गोतमो धम्मवादी - श्रमण गौतम धर्मवादी है।

(म० नि० २.४०१, अस्सलायनसुत्त)

धर्मवादी से वाद करना दुष्कर होता है। मैं श्रमण गौतम के साथ वाद-विवाद नहीं कर सकता।

ब्राह्मण साथियों के दबाव के कारण आखिरकार उसे विवाद के लिए जाना पड़ा और बेचारे को मुँहकी खानी पड़ी, लज्जित होना पड़ा। शुद्ध धर्म का भला कोई क्या विरोध करेगा? यहां तक कि जो नास्तिक थे, वे भी विरोध नहीं कर पाते थे।

नास्तिक शब्द का अर्थ आज बिल्कुल बदल दिया गया। आज तो उसे नास्तिक कहते हैं जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानता। परंतु लगभग २६०० वर्ष पूर्व के भारत में यह अर्थ बिल्कुल नहीं था। तब नास्तिक उसे कहते थे, जो कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को नहीं मानता था। भगवान के जीवनकाल में जो छः अन्य आचार्य थे, उनमें से चार तो स्पष्ट नास्तिक थे ही। परंतु इनके अतिरिक्त दो और नास्तिक आचार्यों का वर्णन मिलता है – वर्ष और भण्य का, जो उत्कल देश के निवासी थे। वे दोनों कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को न मानते हुए भी भगवान की शिक्षा का विरोध नहीं कर पाते थे (म० नि० ३.१३६, महाचत्तारीसकसुत्त)।

जब कर्मफल के सिद्धांत को न मानने वाले नास्तिक भी भगवान का विरोध नहीं कर पाते थे, तो कर्मफल के सिद्धांत को मानने वाले श्रमण, ब्राह्मण कैसे विरोध करते? यदि विरोध होता था, तो ऐसे ब्राह्मणों द्वारा जो पुरोहितगिरी की आजीविका पर आश्रित थे, अथवा ऐसे श्रमणों, ब्राह्मणों द्वारा जो अपनी अपनी अंध-मान्यताओं पर आधारित कर्म-कांडों के प्रति बुरी तरह आसक्त थे। पुरोहितगिरी करने वाले ब्राह्मणों की संख्या तो बहुत कम ही रही होगी। अतः हम देखते हैं कि एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं बल्कि हजारों की संख्या में अन्य ब्राह्मण भगवान की ओर खिंचे चले आये। उनकी शरण ग्रहण की और उनके अनुयायी बन गये। इसी प्रकार अन्य अनेक कर्मकांडी श्रमण, ब्राह्मण और आजीवक भी उनके बताये मार्ग पर चलने लगे। किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए भगवान का बताया हुआ धर्ममार्ग स्वीकार्य हो जाना सहज था, क्योंकि उनकी शिक्षा में कहीं कोई दोष नहीं देख पाता था। सुनने वाला यही कह उठता था –

अच्छिद्दं भगवा कथं, अच्छिद्दं सुगतो कथं।

(म० नि० २.२७३, चूळसकुलुदायिसुत्त)

– कितना निर्दोष (अच्छा) है भगवान का कथन! कितना निर्दोष है सुगत का कथन!

और तो और, हम देखते हैं कि पुरोहितवर्ग के भी अनेक ब्राह्मण भगवान की ओर खिंचे चले आये और उनके अनुयायी हो गये।

चंकी ब्राह्मण

उन दिनों ब्राह्मण पुरोहितों को राजाओं की ओर से गांव के गांव और कभी-कभी निगम के निगम दान में दे दिये जाते थे। उस उपजाऊ गांव या निगम की सारी आय ब्राह्मण पुरोहित और उसके वंशजों को मिलती थी जिससे वे बहुत संपत्तिशाली बने रहते थे और उन दिनों की भाषा में महाशाली या महाशाल कहलाते थे। ऐसा ही एक महाशाल ब्राह्मण था – चंकी, जो कोशलेश प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त जनाकीर्ण, तृण, काष्ठ, उदक, धान्य संपन्न, राजभोग्य, राजदायज (राजा द्वारा दिया गया) ओपसाद नामक ब्राह्मणग्राम का स्वामी था।

एक बार भगवान चारिका करते हुए ओपसाद पहुँचे और गांव के उत्तर में देववन नामक शालवन में ठहरे। तब तक उनकी यह यश-कीर्ति बहुत फैल चुकी थी कि लोक में भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं जो स्वयं साक्षात्कार कर शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं, जो कि आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है। ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

अतः जब ओपसाद निवासियों को पता चला कि भगवान समीप के शालवन में ठहरे हुए हैं, तो समूह के समूह ग्रामनिवासी ब्राह्मण उनके दर्शनार्थ जाने लगे। चंकी ब्राह्मण ने जब यह देखा, तो लोगों को कहलाया कि जरा रुकें, मैं भी भगवान के दर्शनार्थ आपके साथ चलूंगा। उस समय किसी आयोजन में भाग लेने के लिए चंकी ब्राह्मण के यहां नाना प्रदेशों से

आये हुए पांच सौ ब्राह्मण ठहरे हुए थे। उन्हें चंकी ब्राह्मण का श्रमण गौतम के दर्शनार्थ जाना अच्छा न लगा। उन्होंने चंकी को रोका और समझाया कि उन्हें श्रमण गौतम के दर्शनार्थ नहीं जाना चाहिये, बल्कि श्रमण गौतम को ही उनके दर्शनार्थ यहां आना चाहिये। इस निमित्त उन्होंने अपने तर्क प्रस्तुत किये -

१. आप माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक सुजात हैं, जातिवाद के नियमों के अनुसार निर्दोष हैं, अनिंदित हैं।
२. आप महाधनी हैं, महाभोगशाली हैं।
३. आप तीनों वेदों में पारंगत हैं।
४. आप सुदर्शनीय हैं, ब्रह्म वर्ण वाले, ब्रह्म-वर्चस्वी हैं, सुंदर हैं।
५. आप परम शीलवान हैं।
६. आप कल्याणी वाणी बोलने वाले हैं।
७. आप बहुतों के आचार्य-प्राचार्य हैं। तीन सौ ब्राह्मण माणवकों को इस समय मंत्र पढ़ाते हैं।
८. आप कोशल-नरेश प्रसेनजित द्वारा पूजित हैं, सत्कृत हैं, सम्मानित हैं।
९. आप पौष्करसाति जैसे प्रसिद्ध ब्राह्मण द्वारा पूजित हैं, सत्कृत हैं, सम्मानित हैं।
१०. आप ओपसाद ब्राह्मणग्राम के स्वामी हैं।

यह सुन कर चंकी ब्राह्मण ने जो उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। उसने कहा - तो भो, अब मेरी भी सुनो -

१. श्रमण गौतम भी माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक सुजात हैं।
२. श्रमण गौतम बहुत धन-संपदा त्याग कर प्रव्रजित हुए हैं।
३. श्रमण गौतम काले केश वाले, तरुण अवस्था में गृह त्याग कर प्रव्रजित हुए हैं।
४. श्रमण गौतम अनिच्छुक माता पिता को अश्रु-मुख रोते छोड़ कर, सिर-दाढ़ी मुँड़वा कर काषाय वस्त्र पहन कर प्रव्रजित हुए हैं।

५. श्रमण गौतम अत्यंत दर्शनीय हैं, ब्रह्म-वर्चस्वी हैं, निर्दोष, सुवर्णवर्णी हैं।
६. श्रमण गौतम कल्याणी वाणी बोलने वाले हैं।
७. श्रमण गौतम बहुतों के आचार्य-प्राचार्य हैं।
८. श्रमण गौतम काम-राग से सर्वथा मुक्त हैं।
९. श्रमण गौतम प्रपंचविहीन हैं।
१०. श्रमण गौतम कर्मवादी हैं, क्रियावादी हैं यानी आस्तिक हैं, कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को मानने वाले हैं।
११. श्रमण गौतम अनेक ब्राह्मण पुत्रों के निष्पाप अग्रणी हैं, अर्थात अनेक ब्राह्मण उनके श्रद्धालु अनुयायी हैं।
१२. श्रमण गौतम उच्च क्षत्रिय कुल से प्रव्रजित हुए हैं।
१३. श्रमण गौतम महाधनी कुल से प्रव्रजित हुए हैं।
१४. राष्ट्र के ही नहीं, राष्ट्र के बाहर के लोग भी श्रमण गौतम से प्रश्न पूछने आते हैं।
१५. अनेक सहस्र देवताओं ने भी श्रमण गौतम की शरण ग्रहण की है।
१६. श्रमण गौतम का ऐसा मंगल-कीर्ति-शब्द फैला हुआ है कि वे तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध हैं।
१७. श्रमण गौतम महापुरुषीय बत्तीस शरीरलक्षणों से युक्त हैं।
१८. मगध-नरेश राजा प्रसेनजित ने और ब्राह्मण पौष्करसाति ने अपने पुत्रों और भार्याओं सहित श्रमण गौतम की शरण ग्रहण की है।

इन सबके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि श्रमण गौतम ओपसाद ग्राम में आये हैं, अतः हमारे अतिथि हैं और अतिथि हमेशा सत्करणीय होते हैं, माननीय होते हैं, पूजनीय होते हैं। अतः मुझे ही श्रमण गौतम के पास जाना चाहिये, उन्हें मेरे पास नहीं आना चाहिये।

इतना सब कह देने के बाद चंकी ब्राह्मण ने यह भी कहा -

एत्तके खो अहं, भो, तस्स भोतो गोतमस्स वण्णे परियापुणामि।

- यह जो मैं आप गौतम का गुण वर्णन करता हूं,

नो च खो सो भवं गोतमो एत्तकवण्णो।

– वह आप गौतम इतने ही गुण वाले नहीं हैं।

अपरिमाणवण्णो हि सो भवं गोतमो। (म० नि० २.४२५, चङ्कीसुत्त)

– आप गौतम अपरिमाण गुण वाले हैं।

यों अपने साथियों के मना करने पर भी चंकी ब्राह्मण भगवान के पास गया। वहां बहुत देर तक धर्म-संबंधी विशुद्ध चर्चा होती रही। अंत में चंकी ब्राह्मण ने कहा कि मैंने जो कुछ पूछा और आपने उसका जो उत्तर दिया –

तञ्च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्ह अत्तमना।

– वह हमें रुचता है। वह हमें स्वीकार है। हम उससे संतुष्ट हैं, प्रसन्न हैं।

और फिर कहा कि पहले हमारी ऐसी धारणा थी कि –

के च मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा, के च धम्मस्स अञ्ञातारोति। (म० नि० २.४३५, चङ्कीसुत्त)

– कैसे ये नीच, काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न, मुण्डक श्रमण? और कैसा इनका धर्म-ज्ञान?

परंतु अब आपने हमारे मन में श्रमणों के प्रति प्रेम और आदर-भाव पैदा कर दिया। यों कह कर चंकी ब्राह्मण भगवान का शरणागत उपासक बना।

ब्राह्मण कूटदंत

ब्राह्मण कूटदंत मगधराज बिंबिसार से दान द्वारा प्राप्त, घनी आबादी वाले, उपजाऊ खाणुमत नामक ब्राह्मणग्राम का स्वामी था। वह धन, ऐश्वर्य से आकीर्ण होकर रहता था। एक बार भगवान चारिका करते हुए इस गांव में आ निकले और अंबलट्ठिका में ठहरे।

कूटदंत भगवान के दर्शनार्थ जाने लगा। उसके यहां उस समय एक महान यज्ञ का आयोजन था जिसमें भाग लेने के लिए कई सौ ब्राह्मण अतिथि आये हुए थे। उन ब्राह्मणों ने उन्हें भगवान के पास जाने से रोकना चाहा। उन्होंने भी लगभग वैसे ही तर्क उपस्थित किये जो कि चंकी के मित्र ब्राह्मणों ने किये थे। उन्होंने अधिक यह कहा कि यदि आप श्रमण गौतम के

पास जायेंगे तो आपकी प्रतिष्ठा को आंच आयेगी, आपका यश क्षीण होगा और श्रमण गौतम का यश बढ़ेगा।

बदले में कूटदंत ने भगवान की प्रशंसा में वे सारी बातें कहीं, जो चंकी ने कही थीं और उससे अधिक यह कहा –

१. श्रमण गौतम पास आने वालों को – "आओ, स्वागत" कहकर प्यार से बुलाते हैं।

२. श्रमण गौतम **सम्मोदक** हैं, मोद बढ़ाने वाले हैं।

३. श्रमण गौतम **अब्भाकुटिक** हैं, अकुटिल-भ्रू हैं। उनकी भौंहों में कभी बल नहीं पड़ता – न द्वेष और क्रोध का, न भय और चिंता का।

४. श्रमण गौतम **उत्तानमुख** हैं, यानी मुख सीधा रखते हैं, लज्जा से या हीन-भाव से मुँह लटका नहीं देते।

५. श्रमण गौतम पूर्वभाषी हैं। स्वयं पहल करके आगंतुक से बात आरंभ कर देते हैं।

६. श्रमण गौतम चारों परिषदों में सत्कृत हैं।

७. श्रमण गौतम जिस गांव, नगर में विहार करते हैं, उसे अमनुष्य यानी भूत, प्रेत आदि नहीं सताते।

८. श्रमण गौतम सभी गणाचार्यों में प्रधान कहे जाते हैं।

९. किसी-किसी श्रमण ब्राह्मण का यश जैसे-तैसे गलत तरीकों से फैल जाता है, श्रमण गौतम का यश वैसे नहीं फैला है।

१०. श्रमण गौतम का यश अनुपम विद्याचरणसंपन्नता के कारण फैला है।

११. राजा बिंबिसार और ब्राह्मण नेता पौष्करसाति ही नहीं, बल्कि कोशल-नरेश प्रसेनजित भी अपने पुत्र, भार्या और अमात्यों सहित श्रमण गौतम का शरणागत हुआ है

(दी० नि० १.३३२, कूटदन्तसुत्त)।

भगवान की यह प्रशस्ति सुन कर विरोध करने वाले ब्राह्मणों ने कहा कि आप श्रमण गौतम के जैसे गुण बखान कर रहे हैं, ऐसे गुण वाला व्यक्ति यदि सौ योजन दूरी पर भी हो, तो रास्ते के लिए पाथेय बांध कर

हम स्वयं भी उनके दर्शन के लिए जायेंगे। और कूटदंत के साथ-साथ भगवान के दर्शनार्थ वे भी गये। कूटदंत भगवान से मिल कर निहाल हुआ। वह हिंसक यज्ञ से विरत हुआ। उसने स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की। अन्य ब्राह्मणों का भी कल्याण हुआ।

हम देखते हैं, कई लोग ऐसे थे जो अन्य लोगों के द्वारा रोके जाने पर भी भगवान के दर्शनार्थ गये और लाभान्वित हुए, परंतु कुछ ऐसे भी थे जो ऐसी रुकावट के कारण लाभ से वंचित रह गये।

सकुलुदायी

भगवान से धर्म-चर्चा करते हुए सकुलुदायी के मन में वड़ा धर्म-संवेग जागा और उसने भगवान से प्रार्थना की कि वे उसे प्रव्रजित करें। इस पर उसके आश्रमवासी शिष्यों ने एक-जुट होकर विरोध किया और कहा- उदायि, आप श्रमण गौतम के पास प्रव्रजित न हों। आप स्वयं आचार्य होकर किसी के शिष्य न वनें। जैसे कोई वड़ा पात्र छोटा पात्र वन जाय, यही अवस्था आपकी होगी। आप श्रमण गौतम के शिष्य कदापि न वनें (म० नि० २.२६९, चूळसकुलुदायिसुत्त)।

बेचारा सकुलुदायी चाहते हुए भी भगवान के शासन से वंचित रह गया।

एक और उदाहरण सोणदंड का नीचे दिया जा रहा है।

सोणदंड

अपने शिष्यों और साथियों का विरोध सहना आसान नहीं होता। समाज में ऐसे वहुत से लोग थे जो भगवान द्वारा चलाये गये दोष-प्रक्षालन अभियान के विरोधी थे। समझदार लोग उनके शुभ आशय को खूव समझने लगे थे, परंतु इस विरोध के कारण प्रत्यक्षतः उनकी शरण ग्रहण कर सकना और उनका अनुयायी वन जाना साहस का काम था।

सोणदंड मगध-नरेश श्रेणिक विंविसार द्वारा प्राप्त चंपा जनपद का स्वामी था जो वहुत आवादी वाला और वहुत उपजाऊ होने के कारण प्रचुर धन-लाभ का स्रोत था। एक वार भगवान चारिका करते हुए चंपा पधारे और अपने संग आये हुए पांच सौ भिक्षुओं के साथ समीपवर्ती गर्गरा पुष्करिणी के तीर पर ठहरे।

तव तक उनकी जो प्रसिद्धि फैली थी, उसे सुन कर चंपा के अनेक गृहस्थ भगवान के दर्शन के लिए उनके पास जाने लगे। यह देख चंपा का राजभोजक सोणदंड भी भगवान के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। उसके साथियों ने उसे रोकने की कोशिश की, पर फिर भी वह भगवान से मिलने गया। भगवान से जो धर्म-चर्चा हुई, उसमें भगवान की यह वात उसे पूर्णतया समझ में आ गयी कि सही ब्राह्मण वनने के लिए ब्राह्मण जाति में जन्म लेना और गौरवर्ण का होना तथा वेदपाठी होना अनिवार्य नहीं, किन्तु उसमें शील और प्रज्ञा का होना अनिवार्य है। सोणदंड की इस सहमति को देख कर उपस्थित ब्राह्मणों ने अपनी नाराजगी प्रकट की। परंतु सोणदंड अपनी वात पर दृढ़ रहा। भगवान ने सवको शील और प्रज्ञा की महत्ता पर महत्त्वपूर्ण धर्मोपदेश दिया। इसे सुन कर सोणदंड ने भाव-विभोर हो वुद्ध की शरण ग्रहण की और अगले दिन के भोजन के लिए उन्हें भिक्षुसंघ सहित आमंत्रित किया। सोणदंड ने सवके सामने भगवान का गृहस्थ शिष्य होना स्वीकार किया था। परंतु हो सकता है, इस पर उसने पुनः चिंतन किया हो। उसके मन में अपने समाज के लोगों के विरोध का भय जागा होगा। अतः भोजन-दान के पश्चात उसने भगवान से निवेदन किया–

हे गौतम, यदि परिषद में वैठे हुए आसन से उठ कर मैं आप गौतम का अभिवादन करूं, तो वह परिषद मुझे तिरस्कृत करेगी। यदि परिषद तिरस्कृत करेगी, तो मेरा यश क्षीण होगा। जिसका यश क्षीण हो जाता है, उसका भोग भी क्षीण हो जाता है। यश से ही हमें भोग मिले हैं। अतः परिषद में वैठा हुआ मैं केवल हाथ जोड़ूं, तो आप उसे मेरा खड़े होकर सम्मान करना मान लें। यदि मैं परिषद में वैठा हुआ सिर से अपनी पगड़ी हटाऊं, तो आप उसे मेरा सिर से नमन करना मान लें। इसी प्रकार यदि मैं

यान में बैठा हुआ यान से उतर कर आपका अभिवादन करूं, तो यह देख कर परिषद मेरा तिरस्कार करेगी। इसलिए यान पर बैठा हुआ ही यदि मैं अपनी चाबुक का डंडा ऊपर उठाऊं, तो आप गौतम उसे मेरा यान से उतरना मान लें। और यदि यान पर बैठा ही अपना हाथ उठाऊं, तो उसे आप मेरा सिर से किया गया अभिवादन मान लें।

(दी० नि० १.३००, सोणदण्डसुत्त)

बेचारा सोणदंड! भगवान के प्रति पूर्ण श्रद्धा जागने पर भी, उनका गृहस्थ अनुयायी हो जाने पर भी अपने समाज द्वारा तिरस्कृत होने के भय से भयभीत था। परंतु सभी लोग ऐसे नहीं थे। अनेक ऐसे भी थे जो अपने समाज की परिषद के सामने भगवान का अभिवादन करने में गौरव अनुभव करते थे।

ब्राह्मण ब्रह्मायु

भगवान उन दिनों पांच सौ भिक्षुओं के महा भिक्षुसंघ के साथ विदेह प्रदेश में चारिका कर रहे थे। उन्हीं दिनों विदेह की राजधानी मिथिला नगरी में ब्राह्मणों का वरिष्ठ नेता एक सौ बीस वर्षीय ब्राह्मण ब्रह्मायु रहता था, जो ब्राह्मणिक वैदिक शास्त्र में पूर्ण निष्णात था और महापुरुष-लक्षण शास्त्र का यथेष्ट ज्ञाता था। जब उसने भगवान की मंगल यश-कीर्ति सुनी कि वे सम्यक संबुद्ध हैं और शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं, तब उसके मन में हुआ कि ऐसे अरहंतों का दर्शन शुभ है। परंतु ब्रह्मायु को लंबे जीवन का अनुभव था। वह जानता था कि बहुधा सांप्रदायिक आचार्य अपने शिष्यों तथा भक्तों द्वारा ऐसा-वैसा मिथ्या प्रचार करवा देते हैं, जिससे उनकी झूठी ख्याति फैल जाती है और वे इस प्रकार लोगों को ठगते हैं। अतः ब्रह्मायु ने सच्चाई की जांच करनी चाही। ठीक ही है -"पानी पीजै छान कर, गुरु कीजै जान कर"। परंतु अपनी बढ़ी हुई आयु के कारण जानने और परखने के लिए वह स्वयं भगवान के पास नहीं जा सकता था। अतः इस काम के लिए उसने अपने पट्टशिष्य उत्तर माणवक को तैयार किया, जो अपने गुरु के समान ही शास्त्रज्ञ था और बत्तीस महापुरुष लक्षणों का ज्ञाता था।

ब्रह्मायु ने उससे कहा - तात उत्तर, तुम श्रमण गौतम के पास जाकर यह जांचो कि श्रमण गौतम के बारे में जो कीर्ति शब्द फैला है, वह यथार्थ है या अयथार्थ। क्या श्रमण गौतम सचमुच वैसे ही हैं या नहीं? मैं तुम्हारे माध्यम से उनके बारे में जान सकूंगा।

अपने गुरु के आदेश पर उत्तर माणवक जहां भगवान विहार कर रहे थे वहां गया। उनके शरीर पर बत्तीस महापुरुष-लक्षण देख कर संतुष्ट एवं प्रसन्न हुआ। उनके जीवन, व्यवहार को भली-भांति जांचने के लिए वह सात महीने उनके साथ रहा, जिनमें छः महीने तो पीछे लगी छाया की भांति साथ लगा रहा।

उसने लौट कर भगवान के बारे में पूरा विवरण अपने गुरु ब्रह्मायु को सुनाया, बत्तीस महापुरुष लक्षणों की सत्यता बतलायी और बहुत अच्छी प्रकार से निरीक्षण-परीक्षण की गयी भगवान की आदर्श दिनचर्या का अत्यंत उदार परंतु सच्चाईभरा ब्यौरा प्रस्तुत किया।

ब्रह्मायु ब्राह्मण बहुत समझदार था। तुरंत सारी वस्तु-स्थिति समझ गया और जिस दिशा में भगवान विहार कर रहे थे उस ओर अंजलि जोड़ कर, श्रद्धायुक्त हो, उसने तीन बार उदान के ये शब्द कहे - **नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।**

तदनंतर उसे अपनी बढ़ी हुई आयु का ध्यान आया, अपने दुर्बल शरीर का ध्यान आया और अत्यंत भाव-विभोर होकर कह उठा -

अप्पेव नाम मयं कदाचि करहचि तेन भोता गोतमेन समागच्छेय्याम?

- उन आप गौतम के साथ क्या कभी हमारा समागम होगा, क्या उनसे हमारी भेंट होगी?

अप्पेव नाम सिया कोचिदेव कथासल्लापोति - उनके साथ कभी कथा-संलाप हो सकेगा।

(म० नि० २.३८८, ब्रह्मायुसुत्त)

यह तभी संभव था, जब भगवान उस भक्त तक आते, क्योंकि वह स्वयं यात्रा-योग्य नहीं था। और ऐसा सुयोग-संयोग हुआ कि भगवान विदेह देश की यात्रा करते हुए मिथिला नगरी आ पहुँचे। ब्रह्मायु की मनोकामना

पूरी होने का सुअवसर आया। वह भगवान से मिलने स्वयं गया। उन्हें नमस्कार कर उनके सामने बैठ गया। समीप ही मिथिला के ब्राह्मण गृहस्थों की बड़ी मंडली बैठी थी। उसने पहले भगवान के बत्तीस महापुरुष लक्षण जांचे और उन्हें सही पाकर भगवान से धर्म-चर्चा शुरू की। उसने मुनि, केवली और बुद्ध जैसे बहुप्रचलित शब्दों का भगवान से सही अर्थ पूछा। भगवान ने उसे समझाया –

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञा वोसितो मुनि॥

– जो अपने पूर्व जन्म को जानता है, जो स्वर्ग-नरक को स्वयं देख सकता है, जो जन्म-क्षय की अवस्था प्राप्त कर चुका है, वह अभिज्ञान का जीवन जीने वाला मुनि है।

चित्तं विसुद्धं जानाति, मुत्तं रागेहि सब्बसो।
पहीनजातिमरणो, ब्रह्मचरियस्स केवली॥

– जो अपने विशुद्ध हुए चित्त को जानता है, जो समस्त रागों से मुक्त हो चुका है, जिसका जीवन-मरण का चक्र टूट गया है, जिसने ब्रह्मचर्य का जीवन पूरा कर लिया है, वह केवली है।

पारगू सब्बधम्मानं, बुद्धो तादी पवुच्चति।

– जो सारे धर्मों के पारगु हैं, वे बुद्ध कहलाते हैं।

इन शब्दों की यह परम कल्याणी व्याख्या सुन कर ब्राह्मण ब्रह्मायु ने अपने उत्तरीय (उपरिवस्त्र) को एक कंधे पर रखा और भगवान के चरणों में सिर टेक दिया। वह भगवान के चरणों को मुंह से चूमता हुआ, हाथ से दबाता हुआ, अपना नाम सुनाने लगा –

भो गौतम, मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं, भो गौतम, मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं।

वह यह सब बिना किसी झिझक के उस बृहत ब्राह्मण-मंडली के सम्मुख कर रहा था, जिसका कि वह नेता था और जो बुद्ध के दर्शनार्थ वहां आयी थी। यह देख कर समस्त ब्राह्मण परिषद विस्मित हुई, चकित हुई और कह उठी –

अच्छरियं वत, भो, अब्भुतं वत, भो।

– आश्चर्य है भो! अद्भुत है भो! (इस श्रमण की महानता तो देखो –)

यत्र हि नामायं ब्रह्मायु ब्राह्मणो ञातो यसस्सी एवरूपं परमनिपच्चकारं करिस्सतीति। (म० नि० २.३९५, ब्रह्मायुसुत्त)

– कि ब्रह्मायु जैसा प्रसिद्ध, यशस्वी ब्राह्मण (उनके प्रति) इस प्रकार की परम नम्रता प्रकट कर रहा है।

भगवान ने उसे पैरों पर से उठाया और सामने बैठा कर आनुपूर्वी कथा क्रमशः उत्तरोत्तर धर्म को समझाने वाला उपदेश दिया। ब्राह्मण ब्रह्मायु पूर्व संचित पारमिताओं का धनी था। भगवान की धर्म-वाणी सुनते-सुनते स्वतः उसके भीतर उदय-व्यय-बोधिनी विपश्यना जाग गयी और देखते-देखते निरोध-निर्वाण-अवस्था में उसकी डुबकी लग गयी। उसे विरज-विमल धर्म-चक्षु प्राप्त हुए और यह अनुभव हुआ कि –

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति। (म० नि० ..... ब्रह्मायुसुत्त)

– जो कुछ समुदय स्वभाव वाला है, वह निरोध स्वभाव वाला भी है।

भगवान के चले जाने के बाद ब्रह्मायु ब्राह्मण इसी विपश्यना विद्या का अभ्यास करते हुए स्रोतापन्न अवस्था से बढ़ते-बढ़ते अनागामी अवस्था तक पहुँचा और कुछ दिनों के बाद उसका शरीर शांत हो गया। वह बुद्ध के समागम से और उनसे हुए वार्तालाप से सचमुच निहाल हो गया।

इस प्रकार एक नहीं, अनेक समझदार लोगों का भगवान से संपर्क हुआ और शुद्ध धर्म की कल्याणी शिक्षा पाकर उनका मानवी जीवन सफल हुआ। उनके जीवन का अंधकार दूर हुआ। उनमें प्रकाश समा गया और यह इसलिए हो सका कि भगवान विद्याचरणसंपन्न थे, प्रज्ञा और करुणा के क्षेत्र में सूर्य की भांति आभास्वर थे।

भगवान विद्या के आधार पर सर्वज्ञ हुए, चरण के आधार पर महाकारुणिक।

भगवान विद्या के आधार पर धर्मस्वामी हुए, चरण के आधार पर धर्मदाता हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं संबुद्ध हुए, चरण के आधार पर औरों को बोधि बांटने लगे।

भगवान ने विद्या के आधार पर संसार के दुःखों को जाना, चरण के आधार पर संसार के दुःखविमोचन में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर आत्महित साधन में सफल हुए, चरण के आधार पर परहित साधन में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं भवसागर से तरे, चरण के आधार पर औरों के तरने में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं बंधनमुक्त हुए, चरण के आधार पर औरों की मुक्ति में सहायक हुए।

भगवान ने विद्या के आधार पर स्वयं निर्भयता प्राप्त की, चरण के आधार पर औरों को निर्भय बनाया।

भगवान ने विद्या के आधार पर स्वयं निर्वैरता प्राप्त की, चरण के आधार पर औरों को निर्वैर बनाया।

भगवान विद्या के आधार पर अहंकार ममंकार शून्य हुए, परंतु चरण के आधार पर वात्सल्यभाव से आप्लावित हो गए।

भगवान अनुपम विद्या-संपन्न थे।
भगवान अनुपम चरण-संपन्न थे।
भगवान विद्या-चरण-संपन्न थे।

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो।

इतिपि सो भगवा सुगतो

इतिपि सो भगवा सुगतो

वे भगवान सुगत भी हैं।

कौन होता है सुगत ?

सोभना गति अस्साति सुगतो – जिसकी कायिक, वाचिक और मानसिक सभी कर्मगतियां सुष्ठु हों, शोभन हों, सुंदर हों, निर्दोष हों, निष्कलंक हों, दर्शनीय हों, श्रवणीय हों, ग्रहणीय हों वह सुगत होता है। भगवान की सारी गतियां ऐसी ही थीं, इस कारण वे सुगत कहलाते थे।

कायिक कर्म-गति

उनका प्रत्येक कायिक कर्म सर्वथा निर्दोष था, निष्कलंक था, आदर्श था। वे आरंभिक, माध्यमिक और महाशील का पूर्णतया पालन करते हुए कायिक कर्म करते थे। इसकी एक लंबी सूची हम ब्रह्मजालसुत्त में देखते हैं, जैसे कि –

१. वे जीव-हिंसा से सर्वथा विरत रहते थे। वे दंड और शस्त्र को त्याग कर, करुणा से परिपूर्ण हो, सब प्राणियों का हित चाहने वाले थे। भोजन के लिए सजीव बीजों तक का नाश नहीं करते थे, जैसे मूल-बीज, स्कंध-बीज, फल-बीज, अग्र-बीज और बीज-बीज।

२. मैथुन कर्म से विरत रहते हुए अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

३. विकाल भोजन से विरत रहते थे।

४. ऊंची और विलासी शय्या से विरत रहते थे।

५. नशे-पते और जूए आदि से विरत रहते थे।

६. उन दिनों अनेक श्रमण, ब्राह्मण जोड़ने-बटोरने में लगे रहते थे। वे कच्चा अन्न, कच्चा मांस ग्रहण करते थे। स्त्री, कुमारी, दास-दासी, भेड़-बकरी, मुर्गे, सूअर, हाथी, गाय, घोड़ा, खच्चर, खेत और अन्य

माल-असबाब ग्रहण करते रहते थे। वे अन्न, पान, वस्त्र, वाहन, शय्या, गंध और ऐसी ही अन्य वस्तुएं एकत्र करते रहते थे। भगवान इस प्रकार जोड़ने-बटोरने से विरत रहते थे।

७. उन दिनों अनेक श्रमण, ब्राह्मण नृत्य, गीत, वाद्य में तथा खेल, ताली, ताल देने, घड़े पर तबला बजाने में रुचि लेते थे। वे लोहे की गोली के खेल, बांस के खेल, हाथी, अश्व, महिष, वृषभ, बकरों, भेड़ों, मुर्गों, बतखों को लड़ाने के खेल तथा लाठी, मुष्टि, कुश्ती, मारपीट, सेना और लड़ाई की चालों के खेल देखने में निरत रहते थे। भगवान इन सबसे विरत रहते थे।

८. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण सजने-धजने में रत रहते थे, जैसे उबटन लगवाना, मालिश करवाना, औरों के द्वारा नहलाया जाना, शरीर दबवाना; दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन (क्रीम), आभूषण इत्यादि का प्रयोग करना, शिखा में सजावट के लिए कुछ बांधना; छड़ी, तलवार, छाता, खूबसूरत जूता, टोपी, मणि, चँवर, लंबी झालर वाले सफेद उजले कपड़े पहनना आदि-आदि। भगवान ऐसे सजने-धजने से विरत रहते थे।

९. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण अपने यश-लाभ के लिए अनेक प्रकार की हीन आजीविकाएं अपनाते थे, जैसे अंग-विद्या, उत्पाद-विद्या, स्वप्न-विद्या, लक्षण-विद्या के प्रयोग अथवा अग्निहोम, दर्वीहोम, कणहोम, तण्डुलहोम, घृतहोम, तैलहोम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर होम करते-करवाते थे। वे वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, भूत-प्रेत विद्या, सर्प-बिच्छु विष विद्या, झाड़-फूंक विद्या, मूषिक-विद्या, पक्षी-विद्या या शर-परित्राण और मृगचक्र जैसी विद्या का प्रयोग कर आजीविका चलाते थे। भगवान इस प्रकार की हीन विद्याओं से विरत रहते थे।

१०. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण मणि के लक्षण और इसी प्रकार वस्त्र, दंड, तलवार, धनुष, वाण, हथियार, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, दास, दासी, हाथी, घोड़ा, भैंसा, बैल, गाय, बकरी, भैंस, भेड़, मुर्गा, बतख, गोह, कर्णिका, कछुआ तथा मृग आदि के लक्षण बताने की आजीविका पर जीते थे। भगवान ऐसी हीन आजीविका से विरत रहते थे।

११. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण धनियों और राजपुरुषों के लिए दूतों का काम करते थे। भगवान इस प्रकार की हीन आजीविका से विरत रहते थे।

१२. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण ज्योतिष तथा अन्य प्रकार से भविष्यवाणियां करके जीविका चलाते थे, जैसे युद्ध में हार या जीत की भविष्यवाणी करके, चन्द्र-ग्रहण, सूर्य-ग्रहण, नक्षत्र-ग्रहण, उल्का-पात, दिशा-दाह, भूकंप आदि का फल क्या होगा यह बता करके तथा अकाल, सुकाल, सस्ती, महँगी, कुशल, अकुशल, रोग, निरोग आदि की भविष्यवाणियां गणना द्वारा या हस्त-रेखा द्वारा करके जीविकोपार्जन करते थे। भगवान इस प्रकार की हीन विद्याओं से विरत रहते थे।

१३. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण गृहस्थों की अनेक प्रकार की सेवा करके आजीविका चलाते थे, जैसे सगाई-विवाह के लिए, तलाक देने के लिए, उधार लेने या ऋण देने के लिए उचित नक्षत्र बताना अथवा मंत्र-बल द्वारा किसी की गर्भ-पुष्टि करना, किसी का अनिष्ट कर देना, दर्पण पर देवता बुला कर प्रश्न पूछना, कुमारी के अथवा अन्य देव-वाहिनी के शरीर पर देवता बुला कर प्रश्न पूछना, किसी पुंसक को नपुंसक और नपुंसक को पुंसक बना देना, मनौती मनवाना आदि-आदि। भगवान ऐसी घृणित आजीविकाओं से विरत रहते थे।

१४. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण दवा देकर वमन, विरेचन, ऊर्ध्व-विरेचन, शिरो-विरेचन करवाना अथवा कान में तेल डालना, नाक में तेल डालना, छिंकवाना, आंख के लिए अंजन तैयार करना, छुरी-कांटे से चीर-फाड़ की चिकित्सा करना तथा अन्य प्रकार के वैद्य-कर्मों द्वारा आजीविका चलाते थे। भगवान इन सब से विरत रहते थे।

वाचिक कर्म-गति

१. भगवान झूठ से विरत रह कर सदा सत्यवादी, सत्य से जुड़े, विश्वासभरी वाणी बोलते थे।

२. वे चुगली से विरत रह कर, फूट डालने के लिए न इधर की बात उधर और न उधर की बात इधर कहते थे। बल्कि फूट पड़े हुए लोगों को मिलाने के लिए, मिले हुए लोगों के मेल को और दृढ़ करने के लिए उचित

वाणी बोलते थे। वे सदा एकता-प्रिय, एकता-रत, एकता में प्रसन्न रहने वाले और एकता स्थापित करने वाले थे।

३. वे कटु, कठोर वाणी से विरत रह कर सदा निर्दोष, मधुर, प्रेमिल, मान्य, प्रिय और शिष्ट वाणी बोलते थे।

४. वे निरर्थक बातों से विरत रह कर सदा समयोचित, यथार्थ, आवश्यक, सारयुक्त, धर्म और विनय की वाणी बोलते थे।

५. वे राजा अथवा चोर, मंत्री, सेना, युद्ध, अन्न-पान, वस्त्र, शय्या, माला, गंध, जाति, रथ, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पुरुष, चौपाल, पनघट, भूत-प्रेत आदि की कथाओं और विविध प्रकार की घटनाओं और जनश्रुतियों की निकम्मी चर्चाओं से विरत रहते थे।

६. वे पारस्परिक वाद-विवाद और लड़ाई-झगड़ों की बातों से दूर रहते थे।

भगवान चार प्रकार की उत्तम वाणी को बोलने का उपदेश देते थे और जो उपदेश देते थे, उसे स्वयं भी पालते थे।

सुभासितं उत्तममाहु सन्तो, धम्मं भणे नाधम्मं तं दुतियं।
पियं भणे नाप्पियं तं ततियं, सच्चं भणे नालिकं तं चतुत्थं॥

(सु० नि० ४५२, सुभासितसुत्त)

– संतों ने सुभाषित वाणी को उत्तम बताया है। धार्मिक वचन बोले न कि अधार्मिक, यह दूसरी उत्तम वाणी है, प्रिय वचन बोले न कि अप्रिय, सत्य वचन बोले न कि असत्य, ये क्रमशः तीसरी और चौथी उत्तम वाणी हैं।

भगवान ने और समझाया –

सुभाषित वचन वही है जिससे न स्वयं संतापित हो और न दूसरे पीड़ित हों। आनंद-प्रदायक प्रिय वचन ही बोले। पाप की बातें छोड़ कर सदा ऐसा बोले जो दूसरों को प्रिय लगे। और फिर कहा –

सच्चं वे अमता वाचा, एस धम्मो सनन्तनो।

– सत्य ही अमृत वचन है, यह सनातन धर्म है।

सच्चे अत्थे च धम्मे च, आहु सन्तो पतिट्ठिता॥

– सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित संतों ने यही कहा है।

यं बुद्धो भासति वाचं, खेमं निब्बानपत्तिया।
दुक्खस्सन्तकिरियाय, सा वे वाचानमुत्तमाति॥

(सु० नि० ४५५-४५६, सुभासितसुत्त)

– योगक्षेम परिपूर्ण निर्वाण की प्राप्ति के लिए और दुःख का अंत करने के लिए बुद्ध जो कल्याणी वाणी बोलते हैं वही उत्तम वाणी है।

बुद्ध सदा कल्याणी वाणी ही बोलते थे और यही लोगों को सिखाते थे। वाणी सुष्ठु हो तो ही कल्याणी होती है, सुभाषित होती है।

पञ्चहि भिक्खवे, अङ्गेहि समन्नागता वाचा सुभासिता होति।

– इन पांच अंगों से परिपूर्ण हो, तो ही वाणी सुभाषित होती है।

कालेन च भासिता होति – समयानुकूल बोली गयी हो।

सच्चा च भासिता होति – सत्य बोली गयी हो।

सण्हा च भासिता होति – स्नेहपूर्वक बोली गयी हो।

अत्थसंहिता च भासिता होति – सार्थक, हितकर बोली गयी हो।

मेत्तचित्तेन च भासिता होति – मैत्री-चित्त से बोली गयी हो।

(अ० नि० २.५.१९८, वाचासुत्त)

भगवान स्वयं ऐसी ही सुष्ठु वाणी बोलते थे, सुभाषित वाणी बोलते थे। इसलिए उनके बारे में ऐसा कहा जाता था –

समणो गोतमो कालवादी, भूतवादी, अत्थवादी, धम्मवादी, विनयवादी, निधानवतिं वाचं भासिता।

(दी० नि० १.९, ब्रह्मजालसुत्त)

– श्रमण गौतम समयानुसार बोलने वाले हैं; यथाभूत बोलने वाले हैं; सार्थक बोलने वाले हैं; धर्म की बात बोलने वाले हैं; विनय की बात बोलने वाले हैं; सार की बात बोलने वाले हैं।

भगवान धर्मवादी थे, अतः विवाद में नहीं पड़ना चाहते थे। उन्होंने कहा –

नाहं, भिक्खवे, लोकेन विवदामि – भिक्षुओ, मैं लोगों से विवाद नहीं करता।

लोकोव मया विवदति – लोग ही मुझसे विवाद करते हैं।

न, भिक्खवे, धम्मवादी केनचि लोकस्मिं विवदति।

(सं० नि० २.३.९४, पुप्फसुत्त)

– भिक्षुओ, धर्मवादी व्यक्ति लोक में कोई विवाद नहीं करता।

जो आश्वलायन जैसे समझदार थे, वे भगवान से विवाद करने के लिए जाना ही नहीं चाहते थे, क्योंकि भगवान धर्मवादी थे और धर्म की ही बात बोलने वाले थे। धर्मवादी से कोई क्या विवाद करता भला?

भगवान स्वयं विवाद में नहीं उलझना चाहते थे। वप्प जैसे उलझे हुए व्यक्ति को धर्म समझाना होता तो कहते –

हे वप्प, जो बात तुम्हें मान्य हो, उसे मानना। जो स्वीकारने योग्य न लगे, उसे स्वीकार मत करना। यदि मेरी कोई बात समझ में न आये, तो उसका अर्थ मुझसे भले पूछ लेना।

ऐसी अवस्था में विवाद को स्थान कहां? बिना विवाद के वार्तालाप हो सके इस लायक वातावरण तैयार करके भगवान कहते थे –

सिया नो एत्थ कथासल्लापो। (अं० नि० १.४.१९५, वप्पसुत्त)

– अब हम दोनों का कथा-संलाप हो, हमारी बातचीत हो।

ऐसी बातचीत बिना विवाद ही होती थी।

पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

जब कोई व्यक्ति उनके पास आकर विवाद की कोई बात उठाता, तो वे उसे टालकर धर्म की बात में लगा देते थे।

एक बार भगवान श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे। पिंगलकोच्छ ब्राह्मण उनसे मिलने आया। उन दिनों के प्रसिद्ध छः अन्य आचार्यों के बारे में और उनकी योग्यता के बारे में उसने चर्चा शुरू की। भगवान ने इस निरर्थक विषय को टालते हुए कहा –

अलं, ब्राह्मण, तिट्ठतेतं – बस कर, ब्राह्मण, रहने दे इस बात को।

धम्मं ते, ब्राह्मण, देसेस्सामि, तं सुणाहि – ब्राह्मण, तुझे धर्म का उपदेश देता हूं, उसे सुन।

साधुकं मनसिकरोहि, भासिस्सामि – मैं कहता हूं, इसे अच्छी तरह मनन कर।

(म० नि० १.३१२, चूळसारोपमसुत्त)

सुभद्र

महापरिनिर्वाण के थोड़े समय पहले जब सुभद्र नामक परिव्राजक भगवान से मिला, तो उसने भी इसी प्रकार अन्य आचार्यों की बात उठायी। भगवान ने इस विषय को निरर्थक विवाद मान कर उसे भी इसी प्रकार टाला और यही कहा –

अलं, सुभद्द, तिट्ठतेतं – बस कर, सुभद्र, रहने दे इस बात को।

(दी० नि० २.२१३, महापरिनिब्बानसुत्त)

और इस चर्चा को धर्म की ओर मोड़ दिया। उसे शुद्ध धर्म का उपदेश देकर उसका कल्याण किया।

अचेल काश्यप

ऐसे अनेक प्रसंग हमारे सामने आते हैं, जिनमें हम देखते हैं कि भगवान ने बड़ी समझदारी के साथ विवादास्पद प्रसंग टाल दिये और तार्किक व्यक्ति को धर्म की ओर मोड़ दिया। एक बार भगवान उजुञ्ञा के समीप कण्णकत्थल मृगदाय में विहार कर रहे थे। नग्न साधु अचेल काश्यप उनसे मिलने आया। उसने विवाद की बात छेड़ी। भगवान ने टालते हुए कहा –

येसु नो, आवुसो, ठानेसु न समेति, तिट्ठन्तु तानि ठानानि।

(दी० नि० १.३८५, महासीहनादसुत्त)

– आवुसो, जिन बातों में हम असहमत हैं, उन्हें अभी जाने दें।

उन्हीं की बात करें, जिनमें हम सहमत हैं। शुद्ध धर्म की बात में सबकी सहमति होती है। ऐसी बात करते-करते विवाद का विषय स्वतः गौण हो जाता था और बातचीत का बहाव धर्म की ओर मुड़ जाता था। विवाद निरर्थक बातों में ही होता है। धर्म में क्या विवाद होता? सुगत सदा धर्म की ही बात करते थे। धर्म का ही पक्ष लेते थे। धर्म पर कथा-संलाप हो तो धर्म की ही जीत होती थी। धर्म विरोधी प्रतिपक्ष स्वतः पराजित हो जाता था। इसीलिए भगवान के बारे में प्रसिद्ध था –

अच्छरियं वत भो, अब्भुतं वत भो, समणस्स गोतमस्स महिद्धिकता महानुभावता।

– सचमुच बड़ा आश्चर्य है, बड़ी अद्भुत बात है। श्रमण गौतम की महाऋद्धि और महानुभावता तो देखो।

यत्र हि नाम सकवादं ठपेस्सति, परवादेन पवारेस्सति।

(दी० नि० ३.५६, उदुम्बरिकसुत्त)

– जो अपने पक्ष की स्थापना करते हैं, परपक्ष का निराकरण।

भगवान का पक्ष सदा धर्म का पक्ष होता था, अतः उसकी स्थापना सहज ही हो जाती थी। धर्म की स्थापना होती तो धर्मविरोधी परपक्ष का सहज निराकरण हो जाता। वाद-विवाद करना भगवान के स्वभाव में नहीं था, परंतु जब कोई विवाद के लिए तुल ही जाता तो उसे नम्रतापूर्वक धर्मपक्षीय उत्तर देकर शांत कर देते थे।

यदि धर्म संबंधी कोई भी प्रश्न उनसे कभी भी किया जाता, वे तुरंत अनुकूल उत्तर देते थे। अभय राजकुमार को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उत्तर देने के लिए उन्हें कोई पूर्व चिंतन नहीं करना पड़ता था। क्या चिंतन करते? उत्तर बुद्धि के स्तर पर नहीं, अनुभूति के स्तर पर दिया जाता था। अतः तुरंत दिया जाता था और सही दिया जाता था। उन्होंने धर्म के

स्वभाव को बींध-बींध कर, उसके तार-तार अलग करके, स्वानुभूति से जान लिया था। अतः उत्तर देने के लिए क्या चिंतन करते? उत्तर देने में उनसे क्या भूल होती? तभी कहा –

सा हि, राजकुमार, तथागतस्स धम्मधातु सुप्पटिविद्धा।

– राजकुमार, तथागत ने धर्म की धर्मता का स्वभाव भली प्रकार प्रतिवेधन करके यानी बींध-बींध कर देख लिया है।

यस्सा धम्मधातुया सुप्पटिविद्धत्ता ठानसोवेतं तथागतं पटिभाति।

(म० नि० २.८७, अभयराजकुमारसुत्त)

– धर्म-स्वभाव का यह प्रतिवेधन तथागत को तत्काल प्रतिभान करा देता है।

इसी कारण उत्तर सही होता था, सटीक होता था और तत्क्षण होता था।

प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना भगवान का लक्ष्य नहीं होता था। अतः अत्यंत करुण चित्त से, संयत होकर, धर्म का सार व्याकृत करते थे।

निग्गय्ह निग्गय्हाहं, आनन्द, वक्खामि; पवय्ह पवय्ह, आनन्द, वक्खामि।

– हे आनंद, मैं निग्रह कर-कर के बोलता हूं, विषय को बार-बार स्पष्ट करने के लिए बोलता हूं।

यो सारो सो ठस्सति – जो सार है, वह ठहरेगा ही।

(म० नि० ३.१९६, महासुञ्ञतसुत्त)

जो करुण, संयत चित्त से बार-बार धर्म के सार की व्याख्या करे, उसकी बात अंततः मान्य होती ही है और यही हुआ। वाणी की सुष्ठुता के कारण सुगत की शिक्षा लोगों के मानस पर छाती चली गयी। उनकी वाणी में शुद्ध धर्म ही धर्म समाया हुआ था।

तथागत धर्मसंपन्न थे। इसी कारण उनकी वाणी गरिमामयी थी। इसी कारण सुगत 'सुगत' थे।

प्रश्नोत्तर

भगवान चार प्रकार से प्रश्नों का उत्तर देते थे। किसी प्रश्न का एकांश उत्तर देते थे यानी एक ही बार में उत्तर दे देते थे। किसी का विभाजन कर-कर के उत्तर देते थे। किसी का प्रति-प्रश्न करके उत्तर देते थे और किसी का बिना उत्तर दिये रह जाते थे।

किसी-किसी प्रश्न का उत्तर न देने में ही समझदारी थी।

अथो अत्थे अनत्थे च, उभयस्स होति कोविदो।
अनत्थं परिवज्जेति, अत्थं गण्हाति पण्डितो॥

(अ० नि० १.४.४२, पञ्हब्याकरणसुत्त)

– पंडित अर्थ और अनर्थ दोनों विषयों का जानकार होता है। जो जानकार समझदार है, वह अनर्थ को पछाड़ कर अर्थ को ग्रहण करता है।

जो प्रश्न सार्थक हों, यानी जिनके उत्तर देने में लोक कल्याण समाया हुआ हो, उनका उत्तर देना तो ठीक, परंतु जो निरर्थक हों, उन्हें त्यागना ही उचित था। उन दिनों कुछ ऐसे दार्शनिक प्रश्न बहुत चर्चित थे, जो निकम्मे थे, निरर्थक थे, अप्रासंगिक थे। केवल दार्शनिकों के बुद्धि-विलास के प्रिय विषय थे – जैसे कि जीवन्मुक्त व्यक्ति का मरने के बाद क्या होता है, अथवा यह संसार ससीम है या असीम? आदि-आदि। ऐसे प्रश्न और उनके उत्तर निरर्थक थूक-बिलोवन ही थे।

न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति।

– यह न निर्वेद के लिए है, न वीतरागता के लिए है, न निरोध, न उपशमन, न अभिज्ञान, न संबोधि और न निर्वाण के लिए है।

तस्मा तं मया अब्याकतं। (म० नि० २.१२८, चूळमालुक्यसुत्त)

– इसलिए मैंने इन्हें अव्याकृत यानी उत्तर देने योग्य नहीं माना।

जैसे कोई व्यक्ति विष-बुझे बाण से बिंधा हो और शल्य-चिकित्सक वैद्य उसका इलाज करने आये, परंतु वह व्यक्ति इस बात की जिद करे कि इलाज करने के पहले मुझे यह बताओ कि बाण-वेधक व्यक्ति क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है या शूद्र, वह लंबा है या नाटा, गोरा है या काला आदि-आदि। तो वह व्यक्ति इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना ही मर जाएगा।

(म० नि० २.१२६, चूळमालुक्यसुत्त)

किसी भी समझदार वैद्य के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि रोगी को बताये कि उसका रोग क्या है? रोग का मूल कारण क्या है? उसके निवारण का उपाय क्या है? रोगी के लिए यही सार्थक बातें हैं, बाकी सब निरर्थक हैं। यही प्रासंगिक हैं, बाकी सब अप्रासंगिक।

सुगत सदा अपनी वाणी का सदुपयोग करते थे। वे अर्थ-वादी थे। उनकी वाणी सदा सार्थक होती थी। तभी उन्होंने कहा – कोई मुझसे दुःख आर्यसत्य के बारे में पूछे, उसके कारण, उसके निवारण और उस निवारण के आर्य अष्टांगिक मार्ग के बारे में पूछे, तो मैं उसे व्याकृत करता हूं।

(म० नि० २.२४६, महासकुलुदायिसुत्त)

क्योंकि इसके व्याकृत करने में लोक मंगल समाया हुआ है।

यह निर्वेद के लिए है; निरोध, उपशमन, अभिज्ञान, संबोधि और निर्वाण के लिए है। (म० नि० २.१२८, चूळमालुक्यसुत्त)

सुगत जो बोलते थे, सार्थक बोलते थे, लोकहितकारी वचन बोलते थे, निरर्थक नहीं।

सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥

(ध० प० १०१, सहस्सवग्ग)

– हजार निरर्थक पदों की तुलना में केवल एक सुभाषित गाथापद श्रेष्ठ है, जिसे सुन कर सुनने वाला उपशांत हो जाता है।

यही धर्म है। सुगत धर्मवादी थे, सदा धर्मवाणी ही बोलते थे। धर्मवाणी वह जो अनुभूत सत्य है, जो कल्पना-प्रसूत सांप्रदायिक मान्यता पर आधारित नहीं है। सुगत सदा सत्यवादी थे, यथाभूतवादी थे। सत्यवाणी, यथाभूत वाणी ही बोलते थे। इसीलिए राज-कथा, चोर-कथा, आदि निरर्थक

बातों में न पड़ कर अर्थ-कथा, सत्य-कथा और धर्म-कथा ही कहते थे, जैसे कि- अल्पेच्छ-कथा, संतुष्टि-कथा, प्रविवेक-कथा, असंसर्ग-कथा, पुरुषार्थ-पराक्रम-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा, विमुक्ति-कथा, विमुक्ति-ज्ञानदर्शन-कथा। (म० नि० ३.१८९, महासुञ्ञतसुत्त)

सुगत सदा सार्थक, सत्य, धर्म-कथा ही कहते थे, अन्यथा मौन रह जाते थे। सुगत अपने शिष्यों से भी यही करवाते थे, स्वयं भी यही करते थे। जो कहते थे, वही करते थे। जो करते थे, वही कहते थे। तभी सुगत की वाणी सुभाषित होती थी, सफल होती थी।

यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सुगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥

(ध० प० ५२, पुप्फवग्ग)

– जैसे सुंदर पुष्प सुगंधित भी हो, उसी प्रकार जो कहे उसके अनुसार स्वयं आचरण भी करे तो वाणी सुभाषित होती है, सफल होती है।

सुगत की केवल वाणी ही नहीं उनकी हर क्रिया सार्थक होती थी। बिना अर्थ के मुस्कराते तक नहीं थे। जब कभी मुस्कराते तो आनंद के मन में कौतूहल जागता और उसके पूछने पर सुगत किसी पुरातन घटना का उल्लेख कर धर्म ही प्रकाशित करते। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है, एक क्षण भी नष्ट क्यों हो? जो जीवन्मुक्त होंगे वे जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग करेंगे। दुरुपयोग कैसे करेंगे?

सुगत जीवन्मुक्त थे।

पहीनजातिमरणं असेसं – जन्म मरण से छूट गये थे।

अतः शरीर या वाणी से ऐसी कोई भी क्रिया नहीं कर सकते थे, जो निरर्थक हो, जो अन्य किसी को भी पीड़ा पहुँचाये और उसकी हानि करे। वे शरीर और वाणी का कोई भी कर्म करते हुए सजग, सतर्क रहते थे। परिपूर्ण जानकारी के साथ ही कर्म करते थे।

सङ्खायकारी च तथागतानं। (सु० नि० ३५३, निग्रोधकप्पसुत्त)

– तथागत जानकारी के साथ काम करते हैं।

जानकारी के साथ काया का काम करते थे, जानकारी के साथ वाणी का काम करते थे, तो भूल कैसे हो सकती थी? वे सदा सजग रहते थे कि उनके द्वारा किसी को पीड़ा न पहुँचे। तभी उनकी वाणी में बड़ा मिठास होता था। कोई उनसे मिलने आये, तो स्वागत-भरी वाणी में कहते थे –

अगमा खो त्वं, महाराज, यथापेमं – आइये, महाराज, प्रेमपूर्वक आइये। (दी० नि० १.१६१, सामञ्ञफलसुत्त)

जिसका इन शब्दों में स्वागत किया वह महाराज अजातशत्रु था जिसके सहयोग से देवदत्त ने भगवान की हत्या करने के असफल प्रयत्न किये थे, परंतु भगवान का प्यार सब पर एक जैसा उमड़ता था। उनके लिए कोई वैरी नहीं था।

उनकी किसी भी क्रिया से किसी को जरा सी भी हानि न हो, यह ध्यान सदा बना रहता था। तभी वाणी में इतना स्नेह, इतनी मृदुता, इतनी नम्रता भरी रहती थी।

राजगृह में कुम्हार भार्गव की धर्मशाला में एक रात बिताने के लिए उसकी स्वीकृति चाहते हुए उन्होंने कहा –

“भार्गव, यदि तुम्हें भार न हो, यानी तुम्हें कष्ट न हो तो मैं एक रात यहां विहार करूं?”

और जब पता चला कि वहां कोई संन्यासी पहले से टिका हुआ है, तो यह जानते हुए भी कि धर्मशाला का कक्ष बहुत बड़ा है और इसमें एक से अधिक लोग आसानी से ठहर सकते हैं, फिर भी उन्होंने नम्रतापूर्वक उस संन्यासी से पूछा –

“हे संन्यासी, तुम्हें भार यानी कष्ट न हो, तो मैं यहां एक रात रुकूं”

(म० नि० ३.३४२, धातुविभङ्गसुत्त)।

यदि कभी वार्तालाप के दौरान प्रश्नकर्ता से कोई प्रति-प्रश्न करना होता, तो भी कहते –

“तुम्हें भारी न लगे यानी कष्ट न हो तो बताओ...?”

जिस सौम्यता से प्रश्न करते उसी सौम्यता से उत्तर भी मिलता - "भंते, मुझे कष्ट नहीं है, जब आप या आप जैसा कोई व्यक्ति सामने हो ... (दी० नि० १.१६४, सामञ्ञफलसुत्त)।"

जब कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म संबंधी अच्छी कल्याणी बात बोलता, तो बड़े प्यार से उसका अभिनंदन करते और कहते -

कल्याणं वुच्चति ब्राह्मणा - हे ब्राह्मण, तू बहुत अच्छी कल्याणी बात बोलता है। (दी० नि० १.२९९, अम्बट्ठसुत्त)

वार्त्तालाप के समय वाणी में ऐसा मधुर रस भर कर बोलने वाले सुगत कभी आवश्यक होता तो कठोर वाणी का भी उपयोग करते थे, बशर्ते कि वह कल्याणकारी हो, जैसे कि देवदत्त के लिए उन्होंने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। इस घटना ने विरोधियों के शिविर में बड़ी हलचल पैदा कर दी थी।

उन दिनों भगवान की ख्याति देश-प्रदेश में बहुत फैल चुकी थी। अनेक मत-मतांतरों के लोग उनके बताये हुए चित्त-विशुद्धि के मार्ग पर चलने लगे थे। संप्रदायवादियों के लिए यह स्थिति असह्य थी। भगवान की प्रसिद्धि-प्रतिष्ठा को नीचे गिराना उन्हें बहुत आवश्यक लगा। देवदत्त के प्रति प्रयोग में लाये गये कठोर शब्दों में उन्हें भगवान बुद्ध की प्रतिष्ठा के हनन होने का एक उपाय सूझ पड़ा। अभय राजकुमार के पूर्वाचार्य ने इसका लाभ उठाना चाहा।

उसने अभय राजकुमार को समझाया कि यह बहुत अच्छा अवसर है। इससे तुम्हारी प्रसिद्धि बहुत फैलेगी। श्रमण गौतम जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति से विवाद कर तुम उसको सरलता से परास्त कर सकते हो। तुम उसके पास जाओ और यह प्रश्न पूछो - "क्या आप कभी किसी के प्रति ऐसे कठोर शब्द प्रयोग में लाते हैं, जिससे उसका मन पीड़ित हो?" अगर वह उत्तर देगा - "हां, कभी-कभी मैं ऐसे शब्दों का प्रयोग करता हूं।" तो तुम यह कह कर उसे आसानी से नीचा दिखा सकते हो कि अज्ञानी व्यक्तियों में और आपमें क्या भेद हुआ? अज्ञानी व्यक्ति भी ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग करते रहता है और लोगों को दुःखी करते रहता है। इस उत्तर से उसकी प्रतिष्ठा स्वतः धूल में मिल जायेगी। परंतु यदि श्रमण गौतम बड़ी चालाकी के साथ तुम्हारे प्रश्न का ऐसा उत्तर दे कि - "मैं कभी ऐसी कठोर वाणी नहीं बोलता, जिससे किसी के मन को चोट पहुँचे।" तो तुम कह सकते हो कि - "आपने देवदत्त के प्रति ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो उसके मन को दुःखी करने का कारण बना है।" इस प्रकार श्रमण गौतम झूठा साबित हो जायेगा, उसका मान-मर्दन होगा और तुम्हारी जीत हो जाएगी।

वह पहला उत्तर दे अथवा दूसरा, उसकी हार और तुम्हारी जीत निश्चित है। यह प्रश्न ही ऐसा है, जिसका उत्तर हां या ना को छोड़ कर और किसी प्रकार नहीं दिया जा सकता। इस प्रश्न से उसका हाल बेहाल हो जायेगा, जैसे किसी के कंठ में कोई लोहे का कांटा फँस जाय, जिसे कि न निगलते बने, न उगलते। 'हां' कहे तो मरे, 'ना' कहे तो मरे।

अपने गुरु के दबाव से अभय राजकुमार भगवान के पास गया। दूसरे दिन उन्हें अपने घर आमंत्रित कर गुरु ने जैसे समझाया था वैसे प्रश्न प्रस्तुत किया -

"भंते भगवान, क्या आप कभी ऐसे कठोर वचन बोलते हैं जिनसे कि सुनने वाले को पीड़ा पहुँचे?"

भगवान ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया - "इस प्रश्न का 'हां' या 'ना' में एकांशिक यानी एकाकी उत्तर नहीं, बल्कि अनेकांशिक उत्तर होगा।"

बेचारा अभय राजकुमार हतप्रभ हो गया। उसके गुरु ने तो बलपूर्वक कहा था कि 'हां' या 'ना', इन दो को छोड़ कर तीसरा उत्तर हो ही नहीं सकता और इन दोनों में से कोई भी उत्तर देने पर श्रमण गौतम मात खा जायेगा। पर अब तीसरा उत्तर सामने आने वाला है। भगवान द्वारा उस प्रश्न का अनेकांशिक उत्तर दिये जाने के पूर्व ही अभय ने अपनी तार्किक हार स्वीकार कर ली और अपने गुरु के द्वारा फेंके गये पासे का उद्घाटन कर दिया। तदुपरांत वह बहुत अधीर होकर भगवान के अनेकांशिक उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

भगवान ने उत्तर देने के पहले अभय से ही एक प्रति-प्रश्न पूछ लिया।

संयोग से उस समय उसकी गोद में उसका दुधमुँहा बच्चा चित यानी पीठ के बल पर लेटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करते हुए भगवान ने पूछा –

"राजकुमार, यदि तुम्हारी या धाय की असावधानी से इस नन्हे बच्चे के कंठ में कोई कंकड़ या काठ का टुकड़ा चला जाय, तो उसे बाहर निकालने के लिए तुम क्या करोगे?"

"भंते भगवान, ऐसा टुकड़ा बच्चे के गले में फँस कर उसके प्राण तक हरण कर सकता है। इसलिए मैं उसे उसके मुँह से निकालने का हर संभव प्रयत्न करूंगा। आवश्यकता हुई तो बायें हाथ से उसका सिर पकड़ कर दायें हाथ की अँगुली को टेढ़ी करके वह पत्थर या काठ का टुकड़ा उसके कंठ से निकाल दूंगा। भले ही ऐसा करने से बच्चे के मुँह में कहीं खून भी क्यों न आ जाय, भले उसे पीड़ा भी क्यों न हो।"

"तुम ऐसा क्यों करोगे?"

"क्योंकि मुझे बच्चे से बेहद प्यार है। उस पर असीम अनुकंपा है, दया है।"

"राजकुमार! ऐसे ही तथागत की प्राणियों पर असीम अनुकंपा होती है, इसलिए कभी-कभी वे ऐसी वाणी भी बोलते हैं, जो कठोर होते हुए भी उनके लिए हितकारी होती है।

"जो असत्य है, अहितकारी है तथा सुनने वालों के लिए अप्रिय, अनचाही भी है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, परंतु अहितकर है तथा सुनने वाले के लिए अप्रिय, अनचाही है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो असत्य है और अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, परंतु अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, पर हितकर है और सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही है, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।

"जो सत्य है और हितकर है, फिर सुनने वाले के लिए चाहे अप्रिय और अनचाही ही क्यों न हो, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।"

सम्यक वाणी का ऐसा कल्याणकारी विश्लेषण सुन कर अभय राजकुमार अवाक रह गया।

सुगत की वाणी ऐसी ही कल्याणी हुआ करती थी। सुगत के सारे वाचिक कर्म ऐसे ही सुष्ठु और शोभन हुआ करते थे।

मानसिक कर्म-गति

सम्यक संबुद्ध बनने के पूर्व बोधिसत्त्व ने असंख्य जन्मों में पारमिताएं परिपूर्ण करने का व्रत पूरा किया। पारमिताएं शरीर, वाणी और चित्त के कर्मों को निर्मल करने का काम करती हैं। भगवान दीपंकर के पादमूल में बैठ कर सम्यक संबुद्ध बनने का संकल्प इस करुण चित्त से ही लिया था कि केवल मेरी मुक्ति ही मेरे लिए श्रेय नहीं है, मैं बहुतों की मुक्ति में सहायक बन सकूं, तभी मेरी मुक्ति श्रेयस्कर है। अतः बोधिसत्त्व का हर जीवन मैत्री और करुणा से ओत-प्रोत रहता था। अपने अंतिम जीवन में बोधि-वृक्ष के पादमूल में बैठ कर सम्यक संबोधि प्राप्त की, तो नितांत विकार-विमुक्त हुए और परिणामतः महाकारुणिक हो गये, सुगत हो गये। शरीर और वाणी से तो कोई दुष्कर्म करने का सवाल ही नहीं, मन से भी कोई दुष्कर्म करना उनके लिए अशक्य और असंभव हो गया।

जानने वालों ने भगवान के बारे में जान लिया था कि –

सो नेव अत्तब्याबाधाय चेतेति, न परब्याबाधाय चेतेति।

– न वे आत्म-पीड़न के लिए चिंतन करते हैं, न पर-पीड़न के लिए चिंतन करते हैं।

न उभयब्याबाधाय चेतेति।

– न आत्म और पर दोनों के पीड़न के लिए चिंतन करते हैं।

अत्तहितपरहितउभयहितसब्बलोकहितमेव सो भवं गोतमो चिन्तेन्तो निसिन्नो होति।

(म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त)

– आप गौतम आत्महित, परहित, उभयहित और सर्वलोकहित का ही चिंतन करते हुए आसीन होते हैं।

नितांत विमुक्त अवस्था तक पहुँचे हुए सुगत लोक-मंगल का ही चिंतन करेंगे, क्योंकि उनके मन से राग, द्वेष और मोह की जड़ें निकल चुकी हैं। तभी कहा –

येसं, भन्ते, रागो... दोसो... मोहो पहीनो उच्छिन्नमूलो तालावत्थुकतो अनभावङ्कतो आयतिं अनुप्पादधम्मो, ते लोके सुगता।

(अ० नि० १.३.७३, आजीवकसुत्त)

– जिनका राग..., द्वेष..., मोह प्रहीण हो गया, जड़ से उखड़ गया, सिर कटे ताड़ जैसा हो गया, अभाव को प्राप्त हो गया, भविष्य में जिनकी पुनरुत्पत्ति की कोई आशंका नहीं रही, वे ही संसार में सुगत हैं।

भगवान ऐसे ही सुगत थे।

क्योंकि सुगत का व्यापाद दूर हो गया, द्वेष-द्रोह दूर हो गया, अतः वे अव्यापाद का जीवन जीते थे, यानी मैत्री का जीवन जीते थे।

अब्यापज्झारामो, भिक्खवे, तथागतो अब्यापज्झरतो।

– तथागत अव्यापाद यानी मैत्री-भाव में ही निमग्न रहते हैं, मैत्री-भाव में ही रत रहते हैं।

तमेनं, भिक्खवे, तथागतं... एसेव वितक्को बहुलं समुदाचरति।

– ऐसे मैत्री-चित्त वाले तथागत... के मन में प्रायः यही वितर्क उत्पन्न होता है।

इमायाहं इरियाय न किञ्चि ब्याबाधेमि, तसं वा थावरं वा।

(इतिवु० ३८, वितक्कसुत्त)

– मैं अपनी शारीरिक हरकतों से किसी भी स्थिर या जंगम प्राणी को पीड़ा तो नहीं पहुँचा रहा हूं?

सुगत की चाल-ढाल, उनका रहन-सहन स्वभावतः संयत हो जाता है। वे शरीर, वाणी या चित्त से ऐसा कोई काम नहीं करते, जो अकुशल हो, जो अन्य प्राणियों के लिए हानिकारक हो। जिनका चित्त नितांत निर्मल हो जाता है, उनके कर्म स्वतः निर्मल हो जाते हैं, स्वतः निर्दोष हो जाते हैं। जिसके कर्म सदोष हों, वह अपने दुष्कर्म छिपाने का प्रयत्न करता है। एतदर्थ झूठ बोलता है, अन्य अकुशल कर्म करता है।

तथागत का कोई शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुष्कर्म नहीं होता, कोई ऐसी मिथ्या आजीविका नहीं होती, जिनके विषय में तथागत को यह सावधानी बरतनी पड़े कि मेरे इस दोष को दूसरे न जान लें।

(अ० नि० २.७.५८, अरक्खेय्यसुत्त)

मन स्वच्छ हो, तो मन के सारे कर्म स्वच्छ हो ही जाते हैं। मन के कर्म स्वच्छ हो जाते हैं, तो शरीर और वाणी के कर्म स्वतः स्वच्छ हो जाते हैं। बाहर-भीतर स्वच्छ ही स्वच्छ, निर्मल ही निर्मल। तब सारा जीवन एक खुली पुस्तक जैसा हो जाता है। क्या छिपायें? क्यों छिपायें?

जब किसी के मन में यश की आकांक्षा होती है या निंदा से दुराव होता है, तब उसका मन अकुशल कर्म करने लगता है। वह वास्तविकता छिपा कर मिथ्यात्व का ढोंग करता है। पर सुगत निंदा-प्रशंसा से ऊपर उठ गये थे, दोनों के प्रति निस्संग हो गये थे। वे ऐसा ढोंग क्यों करते भला?

जब तथागत पर कोई आक्रोश करता है, उनकी निंदा करता है, उन पर क्रोध करता है, उन्हें कष्ट पहुँचाता है, तब तथागत आघातित नहीं होते, विचलित नहीं होते, चित्त में विकार नहीं जगाते।

और जब कोई तथागत का सत्कार करता है, आदर करता है, सम्मान करता है, पूजन करता है तब तथागत का चित्त सौमनस्यपूर्ण हो कर हर्षातिरेक में डूब नहीं जाता।

(म० नि० १.२४६, अलगद्दूपमसुत्त)

जिन सुगत का चित्त इस प्रकार समता में स्थापित हो गया, वे किसी भी प्रिय-अप्रिय अवस्था में मन को मैला कैसे करेंगे? किसी भी प्रकार का अकुशल वितर्क कैसे करेंगे?

अकुशल वितर्क तीन प्रकार के होते हैं-

१. **अनवञ्ञत्तिपटिसंयुत्तो** - निंदित न होने की कामना से संयुक्त,

२. **लाभसक्कारसिलोकपटिसंयुत्तो** - लाभ-सत्कार और प्रशंसा की कामना से संयुक्त,

३. **परानुद्दयतापटिसंयुत्तो** - दूसरों की दया, अनुकंपा प्राप्त करने की कामना से संयुक्त।

सुगत इन सभी कामनाओं से मुक्त थे, इसलिए ऐसे अकुशल वितर्कों से मुक्त रहते थे।

भय के कारण भी कोई व्यक्ति अपना मन मैला कर लेता है और अपनी कमियों को छिपाने के लिए वाणी और शरीर से दुष्कर्म कर लेता है। परंतु सुगत को चार वैशारद्य प्राप्त थे यानी मानस के स्तर पर नितांत निर्भयता प्राप्त थी। अतः वे भयजन्य विकार पैदा नहीं करते थे। भय उसी को उत्पन्न होता है जो-

१. सम्यक संबोधि प्राप्त किये बिना ही अपने आपको सम्यक संबुद्ध घोषित कर देता है।

२. क्षीणास्रव अरहंत की अवस्था प्राप्त किये बिना ही ऐसी घोषणा कर देता है।

३. अंतराय उत्पन्न करने वाले धर्मों का सेवन करते हुए भी अपने आपको अंतराय से मुक्त घोषित कर देता है।

४. मुक्ति की ओर न ले जाने वाले मिथ्या धर्म का उपदेश करता है।

ऐसे व्यक्ति को सदा भय बना रहता है, आशंका बनी रहती है कि इस विषय में कोई जानकार व्यक्ति मुझसे प्रश्न पूछ लेगा, तो मैं क्या उत्तर दूंगा?

सुगत इन चारों विषयों में विशारद हो गये थे। वे इस प्रकार की कोई भूल नहीं करते थे, अतः निर्भय थे।

निर्भय थे तो अपना मन क्यों मैला करते?

सुगत ने अपना मनोबल इस कदर बढ़ा लिया था कि इसी कारण वे दसबलधारी कहलाते थे। सुगत के दस मनोबल ये थे-

१. वे स्थान को स्थान के तौर पर, अस्थान को अस्थान के तौर पर यथाभूत जानते थे।

२. वे अतीत, वर्तमान और भविष्य के कर्म-फलों को स्थान और हेतुसहित यथाभूत जानते थे।

३. वे सर्वत्रगामिनी प्रतिपदा को यथाभूत जानते थे।

४. वे अनेक धातु, नाना धातु वाले लोकों को यथाभूत जानते थे।

५. वे नाना संकल्प वाले प्राणियों को यथाभूत जानते थे।

६. वे अन्य प्राणियों की इंद्रियों की सबलता, दुर्बलता यथाभूत जानते थे।

७. वे ध्यान, विमोक्ष, समाधि समापत्ति की उपलब्धियों में बाधक दोषों को, बाधाविहीन निर्दोषता को और उनके उत्थान को यथाभूत जानते थे।

८. वे अनेक पूर्वजन्मों को याद कर सकते थे।

९. वे विशुद्ध दिव्यचक्षु से प्राणियों की जन्म-मृत्यु और सद्गति-दुर्गति को स्पष्टतया देख सकते थे।

१०. वे आस्रव-रहित चित्त की चेतो-विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में साक्षात्कार कर विहार करते थे।

इस प्रकार चार वैशारद्य और दसबलधारी सुगत के मन में मैल की एक धूमिल-सी रेखा भी नहीं खिंच पाती थी। उनका मन सतत नितांत निर्मल और निष्कपट रहता था। जब मन ही दुष्कर्म नहीं करता, तो वाणी या शरीर से दुष्कर्म कैसे होता?

ब्राह्मण पिंगिय के उद्गार

जब दसबलधारी सुगत की प्रशंसा-प्रशस्ति देश-प्रदेश में, नगर-नगर, गांव-गांव और घर-घर में फैलने लगी, तो अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ ब्राह्मण आचार्य इस कीर्ति-कथा की सच्चाई को जांचने के लिए भगवान तक स्वयं गये अथवा अपने-अपने प्रमुख शिष्यों को भेजा।

जैसा ऊपर देख चुके हैं, दक्षिण के शतायु ब्राह्मण बावरी ने अपने सोलह प्रौढ़, अनुभवी शिष्यों को इसी निमित्त भगवान के पास भेजा था। उनमें से एक था ब्राह्मण आचार्य पिंगिय। भगवान से मिल कर, उनकी भली-भांति जांच-पड़ताल करके, वह अपने साथियों सहित पूर्ण आश्वस्त हुआ कि भगवान की जैसी कीर्ति फैली है, वे ठीक वैसे ही हैं। भगवान की एक विशेषता ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया। भगवान किसी से सुनी हुई या कहीं पढ़ी हुई बात का उपदेश नहीं देते थे। जिसका अनुभव वे स्वयं कर चुके हैं, वही लोगों को सिखाते हैं। उनकी शिक्षा यथाभूत यानी यथार्थ की शिक्षा है, काल्पनिक मान्यताओं की नहीं। वे निर्मल-चित्त हैं, भूरि-प्रज्ञ हैं, जीवन्मुक्त हैं। यही देख कर उसके मुँह से अनायास प्रशंसा के ये उद्गार प्रकट हुए थे –

यथाद्दक्खि तथाक्खासि, विमलो भूरिमेधसो।

– उन निर्मल-चित्त, भूरि-प्रज्ञ सुगत ने जैसा स्वयं देखा, वैसा ही आख्यात किया।

निक्कामो निब्बनो नागो, किस्स हेतु मुसा भणे?

(सु० नि० ११३७, पिङ्गियमाणवपुच्छा, पारायनानुगीतिगाथा)

– नाग(बुद्ध) निष्काम हैं, निर्वाण-प्राप्त हैं, वे किसलिए झूठ बोलेंगे?

जिसके मन में कामनाएं शेष हों, जो 'अहं', 'मम' के बंधनों से बँधा हो, वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों को झूठ बोल कर उन्हें ठगेगा। जो निष्काम है, निवृत्त है, विमुक्त है, वह किसे ठगेगा, क्यों ठगेगा?

सुगत की जीवनचर्या

ब्राह्मण नेताओं द्वारा भगवान की जांच करनी-करवानी वाजिब थी। ऐसे-वैसे बनावटी कारणों से भी किसी की प्रसिद्धि हो सकती है। अतः सच्चाई की खोजबीन की जानी स्वाभाविक ही थी।

भगवान ने भी एक प्रसंग में स्वयं कहा था कि कोई व्यक्ति देखने में सुंदर हो, प्रभावी हो, बोलने में चतुर हो, तो ऐसा व्यक्ति केवल इन्हीं कारणों से सज्जन-साधु नहीं हो जाता है। हो सकता है, वह ईर्ष्यालु हो, मत्सरी हो, धोखेबाज हो।

(ध० प० २६२-२६३, धम्मट्ठवग्ग)

अतः समझदार ब्राह्मणों द्वारा उनकी पूरी-पूरी जांच की जानी उचित ही थी। ब्राह्मण नेता ब्रह्मायु ने अपने मेधावी पट्ट-शिष्य उत्तर माणवक को भगवान के बारे में सच्चाई जांचने-परखने के लिए ही भगवान के पास भेजा था। लंबे समय तक साथ रह कर उसने भगवान की जीवन-चर्या का बहुत बारीकी से अध्ययन किया। उसने अपने गुरु के समक्ष जो आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया, वह सुगत के महान व्यक्तित्व का सजीव वर्णन है।

आंखों देखा विवरण

उसने भगवान की अत्यंत अनुशासित चाल-ढाल का वर्णन करते हुए बताया कि जब वे चलते हैं, तो सदा दाहिना पांव पहले उठाते हैं। न बहुत लंबा डग रखते हैं और न बहुत छोटा। न बहुत तेज चलते हैं, न बहुत धीमे। न घुटने से घुटना रगड़ कर चलते हैं, न टखने से टखना। जांघ को न ऊंचा उठाते हैं, न हिलाते हैं, न डुलाते हैं, न घुमाते हैं। चलते समय शरीर के नीचे के भाग के बल पर ही आगे बढ़ते हैं। ऊपर के भाग का कोई बल प्रयोग नहीं होता, अतः उसमें कोई हलन-चलन या गति नहीं होती। चीवर उनके शरीर से न बहुत ऊपर रहता है, न बहुत नीचे; न बहुत सटा रहता है, न बहुत ढीला और न ही हवा में फड़फड़ा कर उड़ता है। उनके शरीर में धूल-कीचड़ नहीं लग पाते, क्योंकि वे शरीर को अच्छी तरह ढक कर चलते हैं।

चलते समय नजर न ऊपर उठाते हैं, न नीचे गिराते हैं और न ही इधर-उधर घुमाते हैं। सामने की भूमि पर केवल दो कदम की दूरी तक नजर टिकी रहती है, बाकी सारा ज्ञान दर्शन। चलते हुए अपने शरीर पर नजर न ले जाते हुए भी, उसका अनुभव करते हुए, उसे जानते हुए चलते हैं।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए वे अपनी काया को न ऊंचा करते हैं, न नीचा। न कम झुकाते हैं, न अधिक। अपने गौरव के अनुकूल शरीर की स्थिति रखते हैं। बिछे आसन की ओर जाते हुए काया को आसन से न अति दूर पलटते हैं, न अति समीप। न हाथ का सहारा लेकर आसन पर बैठते हैं और न ही मानो असहाय शरीर को पटकते हुए धम्म से बैठ जाते हैं। न उनके हाथों में चंचलता प्रकट होती है, न पांवों में। न घुटने पर घुटना चढ़ा कर बैठते हैं, न टखने पर टखना और न ही ठुड्डी हाथ पर रख कर बैठते हैं। श्रमण गौतम अत्यंत निश्चल, स्वस्थ, स्व-स्थित होकर बैठते हैं। वे सर्वथा **अछम्भी, अकम्पी, अवेधी, अपरितस्सी, विगतलोमहंसो, विवेकवत्तो च सो भवं गोतमो अन्तरघरे निसिन्नो होति** (म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त) यानी अभय, अकंपित, अविचलित, अपरित्रस्त, अरोमांचित और विवेकयुक्त रह कर बैठते हैं। उनके विराजने में सौम्य गंभीरता समायी रहती है।

भोजन ग्रहण करने के पूर्व जब वे अपने भिक्षा-पात्र को धोते हैं, उस समय जल ग्रहण करते हुए न पात्र को बहुत नीचा करते हैं, न बहुत ऊंचा। न कम झुकाते हैं न अधिक। पात्र धोने के लिए जल न कम लेते हैं, न अधिक। पात्र धोते हुए खल-खल की आवाज नहीं करते और न पात्र को उलट कर धोते हैं। पात्र को भूमि पर फेंक कर अपना हाथ नहीं धोते। पात्र को धोते हुए उनका हाथ धुल जाता है, हाथ धोते हुए उनका पात्र। पात्र व हाथ धोने के लिए काम में आये हुए जल को वे न अति दूर फेंकते हैं, न अति समीप और न हिला-डुला कर, न घुमा-फिरा कर फेंकते हैं। यानी उनकी सारी हरकतें अत्यंत अनुशासित होती हैं।

भोजन (भात) न अधिक ग्रहण करते हैं, न कम। जैसे भोजन की निश्चित मात्रा जानते हैं, वैसे ही व्यंजन यानी तरकारी की भी। भोजन के ग्रास के साथ अधिक मात्रा में व्यंजन ग्रहण नहीं करते। भात चबा-चबाकर खाते हैं। पहला कौर पूरी तरह निगल लेने के बाद ही दूसरा मुँह में लेते हैं। भात का जूठन मुँह से छूट कर उनके शरीर पर कभी नहीं गिरता। भोजन करते हुए वे उसके रस का अनुभव जरूर करते हैं, परंतु उस आस्वादन में राग की प्रतिक्रिया नहीं होती। उनका आहार मौज, शौक, मद अथवा शरीर को सुंदर बनाने के लिए नहीं होता। काया की यथा आवश्यक स्थिति बनाये रखने, जीवन-धारा चलाने और शुद्ध धर्माचरण का जीवन निभा सकने के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही आहार ग्रहण करते हैं, जिससे भूख की पुरानी वेदना दूर हो और नई नहीं जागे। श्रमण गौतम का दैनिक आहार इन गुणों से परिपूरित होता है।

जैसे भोजन पूर्व, वैसे ही भोजनोपरांत वे उसी संयमित रूप से पात्र और हाथ धोते हैं। अपने भिक्षा-पात्र के प्रति न तो अन्यमनस्क होते हैं और न ही आसक्त होकर उसकी सुरक्षा के बारे में चिंतित रहते हैं। भोजन के बाद थोड़ी-सी देर धर्मासन पर मौन बैठते हैं। इतनी अधिक देर मौन नहीं बैठते, जिससे भोजन-दानानुमोदन के अनुकूल समय का अतिक्रमण हो जाय। वे सदा भोजन का अनुमोदन करते हैं, कभी निंदा नहीं करते। अनुमोदन प्रकट करते हुए यह आभास नहीं होने देते कि उन्हें इस प्रकार का भोजन-दान फिर चाहिए अथवा और चाहिए। अनुमोदन करके जब देशना देते हैं, तो धर्म-कथा द्वारा **सन्दस्सेति** यानी सम्यक रूप से दर्शन करा देते हैं। धर्म का दर्शन करना माने भीतर सच्चाई देखना। बहुधा अपनी पूर्व पारमी के कारण कुछ लोग भगवान की वाणी सुनते-सुनते भीतर की सच्चाई स्वतः देखने लगते हैं यानी अनुभव करने लगते हैं। इसी माने में **सन्दस्सेति**। **समादपेति** यानी उन्हें उत्साहित कर देते हैं। भीतर देखने वालों का धर्म के प्रति स्वतः उत्साह जाग उठता है। **समुत्तेजेति** – उन्हें धर्म के प्रति भली-प्रकार उत्तेजित कर देते हैं। उनमें धर्म संवेग जाग उठता है।

सम्पहंसेति – उन्हें प्रसन्न कर देते हैं। ऐसी कल्याणकारिणी देशना सुन कर श्रोता प्रसन्न हो ही उठता है।

तदुपरांत जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार नपे-तुले कदमों से तथागत विहार लौटते हैं। लौट कर बिछे आसन पर बैठते हैं और पांव धोते हैं। यह धोना पांव की सुंदरता के लिए नहीं, मैल दूर करने के लिए होता है। फिर कुछ देर पालथी मार कर, काया सीधी रख कर, सजगता के साथ बैठे रहते हैं। तदुपरांत वे विहार की भिक्षु-परिषद को उत्साहित करने के लिए, न कि निरुत्साहित करने के लिए, धर्म-देशना देते हैं। भिक्षु-परिषद को भी वे उपरोक्त प्रकार से **सन्दस्सेति, समादपेति, समुत्तेजेति** और **सम्पहंसेति** यानी सच्चाई अनुभव करा कर उत्तेजित, उत्साहित और आनंदित करते हैं।

औरों को भी इसी प्रकार धर्म-देशना देते हैं। श्रोता-परिषद जितनी बड़ी या छोटी होती है, उसी के अनुरूप उनकी आवाज तेज या धीमी होती है। सारी परिषद उन्हें सुन पाती है और उससे आगे आवाज नहीं जाती। यों अपने स्वर पर उनका पूरा प्रभुत्व रहता है। उनकी धर्म-देशना सुन कर लोग जब लौटते हैं, तब बिना पीठ दिखाये यानी बिना मुड़े उनके दर्शनीय चेहरे को देखते-देखते चले जाते हैं। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और उनकी प्रभावशाली वक्तृता को श्रोतागण भुलाये नहीं भूल पाते, वह चिर-स्मरणीय बनी रहती है।

ब्राह्मण कुमार उत्तर माणवक ने अपने गुरु ब्रह्मायु को आगे कहा – मैंने श्रमण गौतम को गमन करते देखा है। खड़े देखा है। गृहस्थ के घर में प्रवेश करते देखा है। भोजनोपरांत अनुमोदन करते देखा है। अपने विहार लौटते देखा है। विहार में चुपचाप बैठे भी देखा है और अपनी परिषद को धर्म-उपदेश करते भी देखा है।

इस प्रकार उसने उनकी सारी दिनचर्या एक बार नहीं, बार-बार देखी। वह सर्वथा निर्दोष थी और किसी भी गृहत्यागी के लिए उच्च आदर्श-स्वरूप थी। यह सब देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। भगवान की गुणमयी दिनचर्या का ऐसा सजीव वर्णन प्रस्तुत करके भी वह तृप्त नहीं हुआ, तो अंत में बोला –

एदिसो च एदिसो च सो भवं गोतमो – आप गौतम ऐसे हैं, ऐसे हैं।

और इतना ही नहीं, कितना कहूं?

ततो च भिय्यो – इससे भी कहीं अधिक हैं।

(म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त)

ध्यान देने योग्य बात है कि उत्तर माणवक न भगवान बुद्ध का भावुक भक्त और न श्रद्धालु शिष्य था, जो कि उनकी अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा करता। वह तो ब्राह्मण गुरु ब्रह्मायु का पट्ट-शिष्य था, जो अपने गुरु के आदेश पर श्रमण गौतम को जांचने-परखने और उसकी यथा-तथ्य रपट प्रस्तुत करने के लिए गया था। भगवान को एक सरसरी निगाह से देख कर और उनके भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसने यह रपट नहीं दी थी। भगवान के शरीर पर बत्तीस के बत्तीस महापुरुष लक्षण उसने स्वयं ध्यान से देखे थे। छः महीनों तक छाया की भांति उनके पीछे लगा रह कर एक तथ्यदर्शी समालोचक की तरह उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, खान-पान, लोक-व्यवहार, धर्म-देशना तथा वाणी को बड़े ध्यान से और बुद्धिमानीपूर्वक परख कर देखा था। तत्पश्चात उसने यह आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया था।

भगवान का जीवन कितना भद्र था, भव्य था, शिष्ट था, शालीन था, सुंदर था, संयत था, अनुशासित था! इसी कारण सुगत 'सुगत' थे।

दिनचर्या

तिपिटक और उनकी अट्ठकथाओं (अर्थकथाओं) को देखने से सुगत की दैनिक चर्या का भी एक भव्य दृश्य हमारे सामने आता है।

सुगत की दिनचर्या दो भागों में बँटी थी। वे दिन में केवल एक बार मध्याह्न पूर्व भोजन ग्रहण करते थे। अतः चर्या का एक भाग भोजन के पूर्व का और दूसरा भोजन के पश्चात का था।

भोजन के पूर्व की चर्या

सुगत प्रातः मुँह, हाथ धोने आदि के नित्य-कर्म से निवृत्त होकर भिक्षाटन के लिए जाने का समय आने तक एकांत स्थान में रहते थे। कभी-कभार भिक्षाटन के लिए जाने के पूर्व किसी अन्य संन्यासी के आश्रम में धर्म-चर्चा के लिए चले जाते थे। भिक्षाटन के लिए कभी अकेले निकलते थे, कभी भिक्षुओं के साथ। गांव में प्रवेश करने के पूर्व स्वयं भी और भिक्षुसंघ भी अपने-अपने चीवर, संघाटी को भली प्रकार पहन-ओढ़ लेते थे। आगे-आगे भगवान चलते थे, पीछे-पीछे पंक्तिबद्ध शांत-दांत भिक्षुगण। भिक्षुओं की कतार का यह दृश्य बड़ा भव्य लगता होगा, जैसा कि आज भी पड़ोसी देशों में देखा जाता है। गांव में प्रवेश करने पर गृहस्थ लोग भगवान से भोजन के लिए अपने घर पदार्पण करने की प्रार्थना करते और साथ में अमुक संख्या में भिक्षुओं की मांग करते थे। श्रद्धालु गृहस्थ भगवान के हाथ से पात्र ले उन्हें अपने घर ले जाता था। उन्हें बिछे हुए सम्माननीय आसन पर बैठा कर भोजन परोसता था। भोजनोपरांत हाथ-मुँह धोकर भगवान पुण्यानुमोदन करते और गृहस्थ को समयानुकूल धर्मोपदेश देते थे। भोजन के पश्चात भिक्षुसंघ के साथ भगवान विहार लौट आते थे। कभी-कभी भगवान थोड़ी-थोड़ी मधुकरी घर-घर से प्राप्त कर एकांत में बैठ कर भोजन ग्रहण करते थे। इसी प्रकार भिक्षु भी घर-घर से मधुकरी प्राप्त करते थे। भोजन के बाद उसी प्रकार अनुशासित, पंक्तिवद्ध हो, विहार लौट आते थे। कभी-कभार भगवान भिक्षा के लिए नहीं भी जाते और भिक्षु लोग जो भिक्षा मांग लाते उसे ही ग्रहण करते थे। परंतु ऐसा कम ही होता था। फाल्गुनी होली वाले "वाल-त्यौहार" यानी मूर्खों के त्यौहार पर वे विहार में ही रहना पसंद करते थे। भोजन के पश्चात विहार में लौट कर भगवान खुले मंडप के तले विछे हुए बुद्धासन पर मौन वैठते थे। जब सारे भिक्षु भोजन से निवृत्त हो जाते, तो गंध-कुटी की ओर चले जाते थे।

भोजन के पश्चात की चर्या

भोजनोपरांत गंध-कुटी के बरामदे में बैठ कर भगवान पैर धोते और वहीं बुद्धासन पर बैठ कर भिक्षुसंघ को उपदेश देते थे। भिक्षुओं को उनके अनुकूल साधना का कर्म-स्थान बताते और साधना करने के लिए प्रोत्साहन-भरे शब्द कहते थे। भिक्षु भगवान को नमन कर साधना के लिए अपने-अपने स्थान पर चले जाते थे। कोई पास के अरण्य में, कोई वृक्ष के तले, कोई शून्यागार में। तदुपरांत भगवान गंध-कुटी में प्रवेश कर मुहूर्त भर दाहिनी करवट ले, सिंह-शय्या में स्मृति-संप्रज्ञान के साथ लेटते थे और शरीर को आराम देते थे। विश्राम से उठ कर संसार को करुण-दृष्टि से देखते थे। दोपहर के बाद गांव, नगर के लोग भगवान के सम्मान में पुष्प आदि लेकर उन्हें नमन करने आते थे और भगवान उन्हें समयानुकूल धर्म-देशना देते थे। धर्म-चर्चा के बाद लोग अपने-अपने घर लौट जाते थे।

रात्रिचर्या

भगवान की रात्रिचर्या तीन भागों में बँटी होती थी। सायंकाल की धर्मचर्या से निवृत्त होकर भगवान स्नान करते और चीवर पहन कर मुहूर्त भर अकेले, मौन बैठे रहते थे। तदनंतर भिक्षु लोग आकर उन्हें घेर कर बैठ जाते थे। किसी-किसी के प्रश्न का उत्तर देते, किसी-किसी के कर्म-स्थान यानी साधना विधि का स्पष्टीकरण करते, किसी-किसी को लगन के साथ काम करने के लिए प्रोत्साहित करते और कभी कोई धर्मोपदेश देते थे। यों रात्रि का पहला याम पूरा होता था। उपस्थित भिक्षुसंघ अभिवादन कर अपने-अपने निवासस्थान की ओर विश्राम के लिए चले जाते थे।

रात्रि के दूसरे यानी मँझले याम में विभिन्न देव-ब्रह्म लोकों के देव-ब्रह्माओं में से कोई-कोई आते और भगवान से धर्मचर्चा करते थे। भगवान उनके प्रश्नों का यथोचित उत्तर देते हुए रात्रि का यह बिचला भाग उनके साथ बिताते थे।

रात्रि के अंतिम यानी तीसरे याम को तीन भागों में बांटते थे। पहले भाग में शरीर को स्वस्थ रखने के लिए बाहर खुले में चंक्रमण करते थे यानी टहलते थे। दूसरे भाग में गंध-कुटी में प्रवेश कर दायीं करवट, सिंह-शय्या में, स्मृति-संप्रज्ञान के साथ लेटते थे और शरीर को आराम देते थे। तीसरे भाग में शय्या से उठ कर फिर बुद्धासन पर मौन बैठते थे और महाकरुणा समापत्ति में निमग्न हो जाते थे। आज की धर्म-शिक्षा किस पुण्यशाली व्यक्ति को मिले? इसका चिंतन कर, उस पर करुणा की वर्षा करते थे। और इस प्रकार भोर होते-होते रात्रि के तीसरे यानी अंतिम याम की चर्या पूरी करते थे। यों सुगत का मौन-ध्यान भी लोक-कल्याण के भावों से ओत-प्रोत रहता था, बोलते वक्त की तो बात ही क्या!

अशन, पान, शयन को छोड़ कर; मल-मूत्र त्याग के समय को छोड़ कर; निद्रा, थकावट को दूर करने के समय को छोड़ कर तथागत की धर्म-देशना अखंड ही रहती थी। तथागत का धर्म पर व्याख्यान अखंड ही रहता था; तथागत का प्रश्नोत्तर अखंड ही रहता था।

कभी-कभी एकांत में ध्यान करने चले जाते थे, तो उसमें भी लोक-कल्याण की भावना समायी रहती थी। उन्होंने कहा – मैं अरण्य और वन-पथ पर एकांत शयनासन का सेवन इसलिए करता हूं, जिससे कि–

अत्तनो च दिट्ठधम्मसुखविहारं सम्पस्समानो।

– स्वयं को भी परम सत्य के साक्षात्कार का सुख-विहार हो, और–

पच्छिमञ्च जनतं अनुकम्पमानो – भविष्य की जनता पर भी अनुकंपा हो।

(म० नि० १.५५, भयभेरवसुत्त)

अनुकंपा यही कि उनके जैसे मुक्त हुए व्यक्ति द्वारा भी ध्यान किया जाना सुन कर भविष्य की अमुक्त जनता प्रेरणा प्राप्त करे और ध्यान की ओर झुके।

उनकी रात्रिचर्या शोभन थी, उनकी दिनचर्या शोभन थी, उनकी जीवनचर्या शोभन थी। उनकी समस्त कायिक, वाचिक, मानसिक चर्या

शोभन थी। उनका बोलना शोभन था, उनका मौन रहना शोभन था। इसी कारण वे सुगत थे।

तथागत

जो सुगत थे, वे तथागत थे। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान के सारे गुण इन दोनों शब्दों में समा गये हैं। भगवान ने स्वयं सुगत की व्याख्या करते हुए समझाया–

कतमो च, भिक्खवे, सुगतो – भिक्षुओ, सुगत कौन है?

और स्वयं उत्तर देते हुए बोले–

इध, भिक्खवे, तथागतो लोके उप्पज्जति – भिक्षुओ, यहां तथागत लोक में उत्पन्न होते हैं।

और फिर तथागत की व्याख्या करते हुए कहा–

अरहं, सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिसदम्मसारथि, सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा।

और फिर कहा–

अयं भिक्खवे, सुगतो – भिक्षुओ, यही सुगत हैं।

अतः तथागत ही सुगत हैं, सुगत ही तथागत हैं।

कतमो च, भिक्खवे, सुगतविनयो – भिक्षुओ, सुगत की शिक्षा क्या है?

सो धम्मं देसेति आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं।

– वे धर्म देशना देते हैं, जो आदि, मध्य और अंत में कल्याणकारिणी है।

इसीलिए कहा गया–

सुगतो वा, भिक्खवे, लोके तिट्ठमानो सुगतविनयो वा।

– भिक्षुओ, संसार में सुगत रहें अथवा (संसार में) सुगत न रहने पर सुगत की शिक्षा रहे, तो वह–

तदस्स बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।

(अ० नि० १.४.१६०, सुगतविनयसुत्त)

– बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, संसार पर अनुकंपा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के अर्थ, हित और सुख के लिए होती है।

सुगत कहें या तथागत कहें, अर्थ एक ही है। दोनों समानधर्मी हैं। जो सुगत के बारे में कहा गया, वह तथागत पर लागू होता है, जो तथागत के बारे में कहा गया, वह सुगत पर लागू होता है।

तथागत के बारे में कहा गया –

जो यथावादी हैं तथाकारी हैं, जो यथाकारी हैं तथावादी हैं यानी जो बोलते हैं वही करते हैं, जो करते हैं वही बोलते हैं; जिनकी कथनी-करनी में कोई भेद नहीं होता, वही तथागत कहलाते हैं।

और फिर –

जिस रात तथागत अनुत्तर सम्यक संबोधि प्राप्त करते हैं और जिस रात अनुपादिशेष निर्वाण धातु से परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, इस बीच जो कहते हैं, जो बोलते हैं, जो निर्देश देते हैं, वह सब तथता ही होता है यानी वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं। सत्य ही होता है, यथार्थ ही होता है (असत्य नहीं, अयथार्थ नहीं)। इसीलिए तथागत कहलाते हैं (इतिवु० ११२, लोकसुत्त)।

सुगद

सुगत का एक अर्थ होता है – सुगद यानी सुभाषी यानी सही, सुंदर, कर्ण-प्रिय, कल्याणी वाणी बोलने वाला। ऐसी ही थी सुगत की वाणी, जैसे किसी भूख से व्याकुल व्यक्ति को मधु-पिंड परोस दिया गया हो।

जिघच्छादुब्बल्यपरेतो मधुपिण्डिकं अधिगच्छेय्य।

– जैसे भूख की दुर्बलता से पीड़ित व्यक्ति मधु-पिंड पा जाय।

सो यतो यतो सायेय्य, लभेथेव सादुरसं असेचनकं।

(म० नि० १.२०५, मधुपिण्डिकसुत्त)

– वह जहां-जहां से उसे खाये, वहीं-वहीं तृप्तिकारक, सुस्वादु रस ही पाये।

वंगीस जैसा कवि जब सुगत-वाणी सुनने को लालायित हो उठा तो बोला –

जिस प्रकार हंस गला फैला कर मधुर और सुरीले स्वर में निकूजन करता है, वैसे ही आप शीघ्र मधुर वाणी बोलें, हम उसे ध्यानपूर्वक सुनेंगे।

और जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से पीड़ित लोग पानी के लिए तरसते हैं, वैसे ही मैं आपकी वाणी की आकांक्षा करता हूं। आप वाणी की वर्षा करें (सु० नि० ३५२,३५४, निग्रोधकप्पसुत्त)।

सचमुच सुगत की वाणी प्यासे लोगों के लिए अमृत का काम करती थी। वाणी में धर्म का अमृत तो समाया हुआ था ही, साथ-साथ आवाज भी ऐसी थी जो लोगों को मंत्रमुग्ध कर लेती थी। उनके बत्तीस महापुरुष लक्षणों में से एक लक्षण यह था कि उनका स्वर ब्रह्म-स्वर था, करविंक (कोयल) पक्षी का-सा स्वर था। ब्रह्मायु के शिष्य उत्तर माणवक ने जब भगवान की जांच करके अपने गुरु को रपट दी, तब यह भी बताया कि उनकी वाणी की आठ विशेषताएं हैं। ब्रह्मा की वाणी की भी यही आठ विशेषताएं होती हैं।

उनकी वाणी –

(१) **विसट्ठो** – यानी अत्यंत स्पष्ट होती है, प्रमाण सहित होती है।

(२) **विञ्ञेय्यो** – यानी जानने योग्य होती है; सरलता से जानी, समझी जा सकती है।

(३) **मञ्जु** – यानी श्रवण-मधुर, कर्ण-प्रिय होती है।

(४) **सवनीयो** – यानी श्रवण-योग्य होती है; सुनने वाले उसे बार-बार सुनना चाहते हैं।

(५) **बिन्दु** - यानी सघन सार-युक्त होती है; उसमें का कोई शब्द अर्थहीन, हल्का और निस्सार नहीं होता।

(६) **अविसारी** - यानी विषयानुकूल सुव्यवस्थित होती है, उसमें अटपटापन नहीं होता।

(७) **गम्भीरो** - यानी गंभीर होती है, और,

(८) **निन्नादी** - यानी महामेघ अथवा मृदंग-घोष सदृश गुंजायमान होती है।

वाणी निन्नादी थी, इसीलिए सुनने वाले के हृदय में पैठ जाती थी। श्रोता के तन-मन में विद्युत का सा करंट प्रवाहित हो जाता था और उस पर गहरा प्रभाव पड़ता था। आज भी उनकी वाणी के बोल कोई सुधी साधक पढ़ता है, तो उसके शरीर का अणु-अणु सचेत हो उठता है। जब वे अपनी निन्नादी वाणी में उद्घोष करते होंगे तो उससे उत्पन्न हुए गहन प्रभाव का तो कहना ही क्या!

आओ, सुगत की कल्याणी वाणी के कुछ उदाहरण देखें और देखें विपश्यी साधक के लिए ये कितने प्रबल प्रबोधक हैं, प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक हैं –

(१) **उट्ठहथ निसीदथ, को अत्थो सुपितेन वो?** (सु० नि० ३३३, उट्ठानसुत्त)

– उठ बैठो! सोने से तुम्हें क्या मिलेगा भला?

(२) **उट्ठहथ निसीदथ, दळ्हं सिक्खथ सन्तिया।** (सु० नि० ३३४, उट्ठानसुत्त)

– उठ बैठो! दृढ़तापूर्वक शांति की शिक्षा में लग जाओ।

(३) **सुत्ता जागरितं सेय्यो, नत्थि जागरतो भयं।** (इतिवु० ४७, जागरियसुत्त)

– सोने से जागना अच्छा है, जागने वाले के लिए भय नहीं है।

(४) **उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।**

– उठो! प्रमाद न करो! अच्छे धर्म का पालन करो!

(५) **धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च।**

(ध० प० १६८, लोकवग्ग)

– धर्मचारी सुख से सोता है, इस लोक में भी और परलोक में भी।

(६) **अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।** (ध० प० २१, अप्पमादवग्ग)

– अप्रमाद अमृतपद है और प्रमाद मृत्युपद।

(७) **उट्ठाहतो अप्पमज्जतो, अनुतिट्ठन्ति देवता।**

(जा० २.१७.११, तेसकुणजातक)

– उठे और जागे हुए अप्रमादी का देवता साथ देते हैं।

(८) **अज्जेव किच्चमातप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे।**

(म० नि० ३.२७२, भद्देकरत्तसुत्त)

– आज ही तप कर लो, कौन जाने कल मृत्यु आ जाय।

(९) **खणो वो मा उपच्चगा** – इस क्षण को मत खोओ।

(सु० नि० ३३५, उट्ठानसुत्त)

(१०) **खणातीता हि सोचन्ति** – जो यह क्षण खोते हैं, वे पछताते हैं।

(सु० नि० ३३५, उट्ठानसुत्त)

(११) **अभिक्खणं सकं चित्तं पच्चवेक्खितब्बं।**

(सं० नि० २.३.१००, दुतियगद्दुलबद्धसुत्त)

– क्षण-क्षण अपने चित्त का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए।

(१२) **को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।**

– कैसी हँसी? कैसा आनंद? देखो, (तुम) सतत जल रहे हो।

(१३) **अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥** (ध० प० १४६, जरावग्ग)

– तुम अंधकार में गिरे हुए हो, प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते?

(१४) **अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।** (ध० प० १७४, लोकवग्ग)

– यह लोक अंधा हो गया है, यहां विपश्यना करने वाले थोड़े ही हैं।

(१५) **सत्थारा करणीयं सावकानं हितेसिना अनुकम्पकेन अनुकम्पं उपादाय, कतं वो तं मया**

– श्रावकों के हितैषी, अनुकंपक शास्ता को अनुकंपा करके जो करना चाहिए था, वह मैंने तुम्हारे लिए कर दिया।

(१६) **एतानि, चुन्द, रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि** – हे चुंद, ये वृक्षमूल हैं, ये शून्यागार हैं,

झायथ, चुन्द – हे चुंद, ध्यान करो।

मा पमादत्थ – प्रमाद मत करो।

मा पच्छाविप्पटिसारिनो अहुवत्थ – पीछे पछतानेवाला न बनना।

(म० नि० १.८८, सल्लेखसुत्त)

(१७) **अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा** – उनके लिए अमृत के द्वार खुल गये हैं।

(म० नि० १.२८३, पासरासिसुत्त)

(१८) **इङ्घ तुम्हे, आनन्द, सारत्थे घटथ अनुयुञ्जथ।**

(दी० नि० २.२०४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– हे आनंद, तुम सार प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जाओ।

(१९) **पधानमनुयुञ्ज, खिप्पं होहिसि अनासवो।**

(दी० नि० २.२०७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– समाधि के अभ्यास में लग जाओ, शीघ्र अनास्रव हो जाओ।

(२०) **सङ्गामे मे मतं सेय्यो, यञ्चे जीवे पराजितो।**

(सु० नि० ४४२, पधानसुत्त)

– इस शिव संकल्प के साथ कि पराजित होकर जीने की अपेक्षा तपस्या के संग्राम में रत रहकर मर जाना मेरे लिए श्रेयस्कर है।

(२१) **भद्दको, आवुसो, मग्गो भद्दिका पटिपदा एतस्स निब्बानस्स सच्छिकिरियाय।**

(सं० नि० २.४.३१४, निब्बानपञ्हासुत्त)

–सचमुच निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए यह भद्र मार्ग है, यह भद्र प्रतिपदा है।

(२२) **सतो, भिक्खवे, भिक्खु, सम्पजानो कालं आगमेय्य।**

– भिक्षुओ, भिक्षु स्मृतिमान और संप्रज्ञानी होकर अपने समय की प्रतीक्षा करे।

अयं वो अम्हाकं अनुसासनी – यही मेरी शिक्षा है।

(सं० नि० २.४.२५६, दुतियगेलञ्ञसुत्त)

(२३) **यं, भिक्खवे, न तुम्हाकं, तं पजहथ।**

(सं० नि० २.३.३३, नतुम्हाकसुत्त)

– भिक्षुओ, जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ दो।

(२४) **मानं, भिक्खवे, एकधम्मं पजहथ।**

– भिक्षुओ, तुम केवल एक धर्म – अभिमान – को त्याग दो।

(इतिवु० ६, मानसुत्त)

(२५) **अहं वो पाटिभोगो अनागामिताय।**

– तुम्हारे अनागामी हो जाने का मैं जिम्मा लेता हूं।

(२६) **अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा।**

– भिक्षुओ, स्वयं अपने द्वीप बन कर, स्वयं अपनी शरण ग्रहण कर, किसी अन्य की शरण न ग्रहण कर विहार करो।

(२७) **धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा।**

(दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– धर्म-द्वीप बन कर, धर्म की शरण ग्रहण कर, किसी अन्य की शरण न ग्रहण कर विहार करो।

(२८) **तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।**

(ध० प० २७६, मग्गवग्ग)

– तपने का काम तो तुम्हें ही करना होगा, तथागत तो केवल मार्ग के आख्याता होते हैं।

(२१) **हन्द दानि, भिक्खवे** - हन्त, भिक्षुओ,

आमन्तयामि वो आओ, सुनो,

वयधम्मा सङ्खारा - सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, अनित्य हैं।

अप्पमादेन सम्पादेथ - अप्रमाद द्वारा इस सत्य को पूरी तरह जानने का प्रयास करो। (दी० नि० २.२१८, महापरिनिब्बानसुत्त)

यही नहीं, सुगत के इन जैसे अन्य अनेक बोल हैं जो धर्मपथिकों के लिए कल्याणी चेतावनी का काम करते हैं; मोह-निद्रा में सोये हुओं को जगाने के लिए गुरु-गंभीर शंखनाद का काम करते हैं; शिथिल पड़ गये साधकों के लिए चाबुक की फटकार का सा काम करते हैं। इसीलिए सुगत 'सुगत' हैं, 'सुगद' हैं, 'सुभाषी' हैं, 'तथागत' हैं, 'सचेतक' हैं।

उनके बोल हमारे लिए धर्म की अनमोल विरासत हैं और यही तो वे चाहते थे कि हम उनके निरामिष धर्म के वारिस बनें, आमिष के नहीं।

तस्मातिह मे, भिक्खवे, धम्मदायादा भवथ, मा आमिसदायादा।

(म० नि० १.२९, धम्मदायादसुत्त)

- भिक्षुओ, मेरे धर्म वारिस बनो न कि आमिष वारिस।

उनकी वाणी में शुद्ध धर्म ही समाया हुआ था। उनके वारिस बन कर हम अपना ही कल्याण साधेंगे। अपनी सुगति प्राप्त करेंगे।

हम देखते हैं कि भगवान की कायिक, वाचिक और मानसिक सभी कर्म-नीतियां सुष्ठु थीं, शोभन थीं, सुंदर थीं, निर्दोष थीं, निष्कलंक थीं, दर्शनीय थीं, श्रवणीय थीं, ग्रहणीय थीं। इसी कारण भगवान 'सुगत' थे।

इतिपि सो भगवा सुगतो।

अनुक्रमणिकाएं